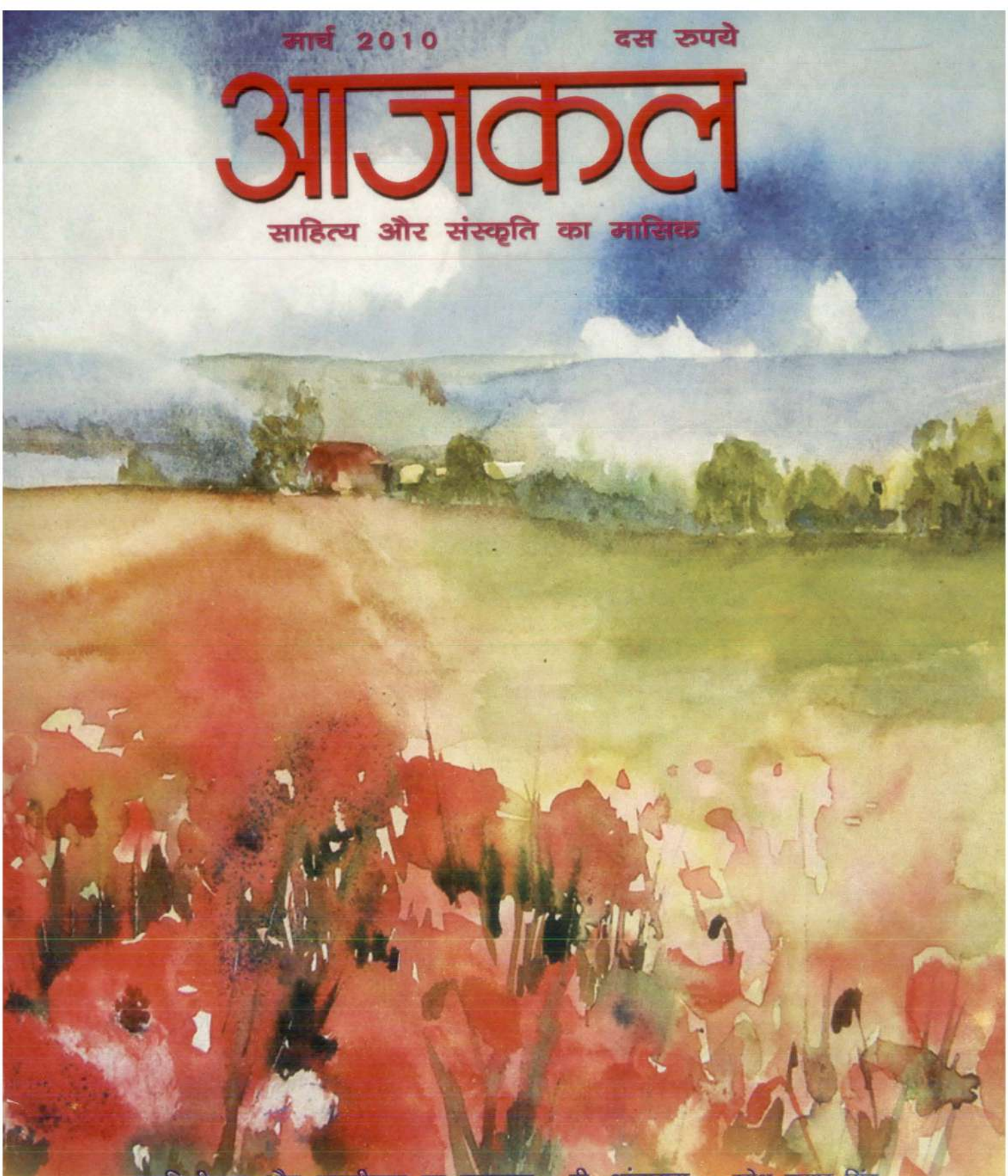
मार्च 2010 दस रुपये

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक



प्रगतिशीलता और शास्त्रीयता का समन्वय : वी. शांताराम – *रमेश कुमार सिंह*

पंजाबी लोकगीतों की कोकिला : सुरिंदर कौर – *निंदर घुगियाणवी*

एक शहर का चेहरा – *ज्ञान प्रकाश विवेक*

कथाकार पंकज बिष्ट से सुंदर चंद ठाकुर की बातचीत

साथ में कहानियां तथा कविताएं

चार नवगीत : विजयकिशोर मानव

कोई नियम नहीं

जलती आंखें, कसी मुट्ठियां
भटक गईं या हुई पालतू
इस इमारतों के जंगल में !

ऐसी दौड़ कि सर ही सर हैं
पांवों के नीचे कंधे हैं
या तो आदमखोर नजर है
या फिर लोग निपट अंधे हैं

कौम कि जैसे भेड़-बकरियां
पैदा होते हुई फालतू
होने चली जिबह मकतल में !

जिसे पा गए, उस पर छाए
सबमें गुण हैं अमरबेल के
सीढ़ी अपनी, सांप और के
ऐसे हैं कायदे खेल के

मिली-जुली हो रहीं कुश्तियां
ऊपर वाले, देख हाल तू
कोई नियम नहीं दंगल में !

शहर आए

गांव छोड़ा, शहर आए
उम्र काटी सर झुकाए
ढूंढ लीं खुशियां इनामों में
जुड़ गए कुछ खास नामों में !

मां नहीं सोई
भिगोकर आंख रातोंरात रोई
और हर त्यौहार
बापू ने किसी की बाट जोही

मींच आंखें सो नहीं पाए
बांधकर उम्मीद पछताए
हां-हुजूरी में, सलामों में
खो गए बेटे निजामों में !

घर नहीं कोई यहां
दरबार हैं या हैं दुकानें
जो हंसी लेकर चले
उस पर पुती हैं सौ थकानें

कामयाबी के लिए सपने
बेच डाले-रात दिन अपने
सिर्फ कुछ खोटे छदामों में
खो गए रंगीन शामों में !

घुटन-भरी संज्ञाएं

घुटन से भरी-भरी
ये सारी संज्ञाएं
मेज पर पड़ी पिन तक
करती हैं शंकाएं !

फाइल के गत्ते पर
आवर्तन मन का
फाड़ रहा अखबारी
कागज जीवन का

उलझन के रेतीले पानी पर
तैर रही साधन की
बोझ-लदी नौकाएं !

फर्श पर पड़े हुए
रद्दी-से हम
धूल भरे वातायन से
लेते दम

नत्थी-सा हो गया अहम् अपना
मिलती हैं चुभन से
कराहती शिराएं !

हवा-हवा हो जाता
आंखों का गीलापन
जीने में कुछ ऐसे
शामिल हैं विज्ञापन

दलदल में फंसे हुए पांव हैं
मुंह चिढ़ा-चिढ़ा जातीं
सिरफिरी हवाएं!

काठ-मारे शहर

पाला-मारे खेत सुने थे
शोर अकालों के
लेकिन यहां काठ-मारे-से
शहर हो गए हैं !

भरे जेठ की दरकी धरती
जैसे हैं चेहरे
अंधी फरियादों को
सुनते हैं बैठे बहरे

चर्चे अब तक बहुत सुने थे
इन्हीं उजालों के
आग लगी जिनसे, सब घर
खंडहर हो गए हैं !

दीवारों के घेरे जीते
बूढ़े शेर हुए
भीतर लोग दहकते
बाहर से पालतू सुए

शायद हमने ढोर चुने थे
भरे पुआलों से
तभी शहर के शहर यहां
लाशघर हो गए हैं !

संपर्क : सेक्टर 2 सी/207, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 65; अंक : 11; पूर्णांक : 785
मार्च 2010; फाल्गुन-चैत्र 1931-32

वरिष्ठ संपादक
योगेन्द्र दत्त शर्मा

संपादक
सीमा ओझा

आवरण सज्जा : **अर्चित**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन : 2436 2915

website :
www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
जे. के. चंद्रा

चंदे की दरें :
वार्षिक : 100 रुपये; दो वर्ष: 180 रुपये;
तीन वर्ष : 250 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 530 रुपये
शेष विश्व : 730 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :
सूर्यकांत शर्मा
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066
फोन : 26100207 / 26175516
ई-मेल : pdjucir_jcm@yahoo.co.in

टाइपसेट : **ज्योति लेजर टाइप सेटिंग**

इस अंक में

पृष्ठ 1-52

लेख

9. संघर्षों से घिरा एक जिंदादिल लेखक
गत वर्ष दिवंगत हुए कथाकार, उपन्यासकार यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के बारे में बता रहे हैं ***हरदर्शन सहगल***

11. फिर इन्हीं हथियारों से
प्रख्यात कथाकार अमरकांत के व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा कर रहे हैं ***मधुरेश***

16. 'साहित्य से रिश्ता बनाने के लिए समय चाहिए !'
कथाकार, उपन्यासकार पंकज बिष्ट से ***सुंदर चंद ठाकुर*** की महत्त्वपूर्ण बातचीत

23. मैं और मेरा यथास्थितिवाद
यथास्थिति के विरुद्ध वैचारिक और व्यावहारिक स्तर की विसंगति पर ***से.रा. यात्री***

36. एक शहर का चेहरा
कस्बेनुमा एक शहर की जड़ता और जीवंतता पर ***ज्ञानप्रकाश विवेक*** का मार्मिक संस्मरण

43. मैं सम्मानित होने से फिर वंचित
सम्मान प्रदान करने वाली फर्जी संस्थाओं पर ***प्रदीप पंत*** की चुटीली टिप्पणी

48. कविता में प्रयोगवाद
नई कविता में प्रयोगवाद के मूल्यांकन की चर्चा कर रहे हैं ***भारत यायावर***

50. पुरस्कार के लिए साहित्य की जरूरत
फिल्मों में पुरस्कार हासिल करने के लिए बनाई गई फिल्मों के बारे में बता रहे हैं ***राधेश्याम***

लेखमाला

कीर्ति स्तंभ **4. प्रगतिशीलता और शास्त्रीयता का समन्वय : वी. शांताराम**
सुविख्यात फिल्म निर्माता-निर्देशक वी. शांताराम के बारे में बता रहे हैं ***रमेश कुमार सिंह***

दीर्घा **38. पंजाबी लोकगीतों की कोकिला : सुरिंदर कौर**
पंजाबी की चर्चित लोकगायिका सुरिंदर कौर की चर्चा ***निंदर घुगियाणवी*** द्वारा

कविताएं

25. चार गीत
संजय शुक्ल

26. चार कविताएं
पाल भसीन

27. तीन कविताएं
मनोज कुमार झा

28. चार गीत
जयकृष्ण राय तुषार

कहानी

21. डेड वैली
आशा प्रभात

29. हवा (तेलुगु)
पेद्दिमोट्ला सुब्बरामय्या

स्तंभ

2. प्रसंगवश, पत्र
45. कृति प्रसंग
52. वातायन

आवरण II. चार गवगीत —*विजयकिशोर मानव*

हमारे विक्रय केंद्र : **नई दिल्ली:** सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260; **लखनऊ:** हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अन्नेगंज, दूरभाष : 0522-2225455; **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030; **पटना :** बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 0612-2683407; **मुंबई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवी मुंबई; दूरभाष : 9522-27570686; **बंगलौर :** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244; **हैदराबाद :** ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कांप्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली, दूरभाष :040-24605383; **चेन्नई :** राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष : 044-24917673; **तिरुअनंतपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश...

समाज को लेखक से जो अपेक्षा होती है वह तो है ही पर लेखक को भी समाज से तरह-तरह की अपेक्षाएं होती हैं। इसमें सबसे बड़ी अपेक्षा तो यही है कि वह समाज से अपनी और अपने लेखन की स्वीकृति चाहता है। उसकी यह इच्छा कोई गलत बात नहीं है पर इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह जो तरह-तरह के दंद-फंद रचता है वह निश्चय ही कभी-कभी अप्रियता की सीमा छूने लगते हैं। अपनी इस इच्छा के चलते वह अपनी रचनाओं को लोकप्रियता की दिशा में मोड़ने लगता है। इसी के तहत वह कभी-कभी ऐसी रचनाएं लिख डालता है जिसमें गंभीरता तो उतनी नहीं होती पर उसमें सस्तापन और सतहीपन नजर आने लगता है। कवि सम्मेलन के अनेक कवि इसका उदाहरण हैं, जो सस्ती लोकप्रियता बटोरने के लिए अपने गंभीर रचनाधर्मिता को छोड़कर फूहड़ता को अपना रचना-धर्म मान लेते हैं और इसी मानसिकता से नियंत्रित होकर कविता और साहित्य को मजाक बना डालते हैं। परिष्कृत रुचि वाले श्रोताओं और पाठकों को यह स्थिति गवारा नहीं होती और वे इसके विरुद्ध आवाज उठाने लगते हैं। आमतौर पर गंभीर और सुरुचिसंपन्न श्रोता ऐसे आयोजनों में रुचि नहीं ले पाते। वास्तव में लेखक का काम जनता की रुचि को परिष्कृत करना होता है, सस्ती लोकप्रियता हासिल करना नहीं।

समाज से स्वीकृति पाने की लेखक की इच्छा का एक रूप सम्मान और पुरस्कार प्राप्त करना भी होता है। उसकी यह इच्छा प्राचीनकाल से ही तरह-तरह के रूपों में प्रकट होती रही है। प्राचीनकाल में बहुत-से कवि राजाश्रय प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे। उनका काम राजाओं की स्तुति करके उन्हें रिझाना और बदले में पुरस्कार पाना था। कालिदास जैसे महाकवि भी इस प्रलोभन से अपने आप को बचा नहीं पाए। उर्दू के महान शायर ग़ालिब भी इसी दिशा में प्रवृत्त रहे, भले ही उनके अंतिम दिन अभावों में बीते। इसके अलावा अनेक कवि सामंतों और नगर सेठों का भी आश्रय पाते रहे।

आज के युग में इस प्रवृत्ति का स्वरूप कुछ बदल गया है। आज तो अनेक साहित्यिक संस्थाएं और अकादमियां पुरस्कार और सम्मान देती हैं। यह ऐसा प्रलोभन है जिसके प्रभाव से शायद ही कोई बच पाता हो। इसके लिए अनेक लेखक तरह-तरह की जुगत लगाने और जुगाड़ भिड़ाने की चेष्टा में लिप्त पाए जाते हैं। विडंबना है कि ऐसे पुरस्कार-सम्मान प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने आत्मसम्मान को भी दाव पर लगाना पड़ जाता है। एक अंतहीन होड़ में भाग लेने वाले लोगों के भाग्य का फैसला ऐसे लोगों पर निर्भर करने लगता है जिन्हें न तो लेखक की गरिमा का कोई ज्ञान होता है और न उसके रचे साहित्य का कोई समझ। 'सब धान बाइस पंसेरी' की तर्ज पर वे कद्दावर और बौने लोगों के बीच कोई अंतर नहीं कर पाते। कई बार तो ऐसे लोगों को भी पुरस्कार दे दिया जाता है जो अपने क्षेत्र में नौसिखिए हैं और जिन्हें कोई अनुभव नहीं होता। ऐसे में अपना आत्मसम्मान बचाए रखने वाले साहित्यकारों और कलाकारों के सामने संकट उपस्थित होना स्वाभाविक है। पर ऐसे लोग भी हैं जिन्हें कोई प्रलोभन आकर्षित नहीं कर पाता और वे एक झटके से ऐसे पुरस्कार-सम्मान को ठोकर मारने के लिए तैयार रहते हैं।

क्या यह हमारा सौभाग्य नहीं है कि आज के छीनाझपटी के दौर में ऐसे स्वाभिमानी लोग भी हमारे बीच मौजूद हैं!



वाजिब चिंता

● नवंबर अंक के 'प्रसंगवश' में बच्चों के प्रति व्यक्त की गई आपकी चिंता वाजिब है। लेकिन मुझे आश्चर्य सिर्फ इस बात पर है कि हमें बच्चों की याद केवल बाल दिवस के आस-पास ही क्यों आती है? *आजकल* तो साहित्य एवं संस्कृति का ध्वजवाहक होने का दम भरता है। क्या, एकाध पन्ना साल-भर बच्चों के लिए समर्पित नहीं कर सकता? ऐसा पन्ना जिसमें सिर्फ और सिर्फ बच्चों के बारे में बात की जाए, उनके सांस्कृतिक विकास के बारे में सोचा जाए।

इस अंक में रघुवीर सहाय की कविता 'फायदा' बच्चों के लिए निराली भेंट है।

रवि शर्मा का आलेख प्रासंगिक बन पड़ा है।

—नीरज कुमार झा, मधुबनी (बिहार)

उपेक्षित है विज्ञान लेखन

● यह सच है कि किस्से-कहानी के अलावा भी है बाल साहित्य। पर कितना आश्चर्य है कि फीचर, वार्ता, निबंध, यात्रा-वर्णन, परिचर्चा, साक्षात्कार, पुस्तक समीक्षा, प्रहेलिका, प्रहसन, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, डायरी एवं पत्र लेखन की लंबी फेहरिस्त में बच्चों के लिए की जाने वाली विज्ञान लेखन जैसी बेहद महत्त्वपूर्ण विधा को ही हमेशा उपेक्षित कर दिया जाता है। पर क्यों? पता नहीं, इसे हिंदी लेखकों की कुंठित मानसिकता का परिणाम माना जाए या फिर इस पत्रिका की कार्य पद्धति के दायरे से बाहर का मामला? बाल साहित्य में विज्ञान लेखन पर *आजकल* की इस उपेक्षा के बारे में वास्तविकता जानने के लिए आपके बहुत-से पाठक उत्सुक होंगे। आशा है, भविष्य में आपकी ओर से इस दिशा में सकारात्मक प्रयास होंगे।

—आइवर यूशिएल, बरेली

संतुलित हो अंक

● 'बाल साहित्य को यथोचित महत्व नहीं दिया जाता'— साक्षात्कार में फर्श से उठकर अर्श तक पहुंचने वाले एक ऐसे साहित्यकार की आपबीती है जो देश-विभाजन के दंश को, अपनी मिट्टी-भाषा संस्कृति से कट जाने के दर्द को अपने कलेजे में छिपाए भटकता, ठौर-ठिकाने ढूंढता हुआ संयोग से लेखक बन जाता है।

सांस्कृतिक अवनति इसके दौर में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक असंतुलन व्याप्त है। जिस उम्र में बच्चे तोतली जुबान में अपनी मातृभाषा सीखते हैं, उसी उम्र में हम उनसे अंग्रेजी भाषा सीखने की कवायद करवाने लगते हैं। मगही, मैथिली, भोजपुरी, अंगिका, बज्जिका, ब्रजभाषा तथा अवधी आदि भाषाओं से उन बच्चों का परिचय होना चाहिए जिनकी ये मातृभाषाएं हैं और तब खड़ी बोली

हिंदी के माध्यम से शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था हो।

हमारी संस्कृति में चारित्रिक बल तथा मानसिक विकास पर महापुरुषों ने हमेशा ही ध्यान दिया है। संस्कृत भाषा में हमें कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि बच्चों के निर्माण में हमेशा ही मनीषियों ने अपना योगदान दिया है।

आज अभिभावक, शिक्षक और समाज अबोध-बच्चों की तरफ से आंख मूंदकर धनोपार्जन और भोग-लिप्सा में ही प्रवृत्त हैं। ऐसे घोर निराशावादी दौर में भी कुछ नाम हैं जो विरोधाभासों की धुंध को तोड़ते हुए इस कठिन समय में प्रकाश पुंज की तरह ही देदीप्यमान हैं। उन प्रकाश पुजों में मैं प्रकाश मनु, देवसरे तथा कृष्ण शलभ का स्थान सर्वोपरि समझता हूं।

इस अंक की सभी रचनाओं के माध्यम से बाल-साहित्य के वर्तमान परिदृश्य की समुचित जानकारी मिली है।

आप बाल साहित्य पर ले-देकर वही पुराना घिसा-पिटा राग अलापकर साल-भर के लिए चुप्पी साध लेते हैं। इस खानापूर्ति की क्या जरूरत है? क्या आप एक संतुलित अंक नहीं निकाल सकते जिसमें असरकारी होने के चिह्न दिखें! *आजकल* को सती-साध्वी की छवि से मुक्त करके थोड़ा समसामयिक भी बनाइए। मुझे इतना ही कहना है कि *आजकल* साहित्य के नाम पर खटराग ज्यादा करता है।

पत्रिका बहुत तेजी से लेखक और लेखन, समाज और उसके सरोकारों से कटती जा रही है। लेखक समाज का सबसे अधिक प्रबुद्ध वर्ग होता है इसलिए समाज के प्रति उसकी बड़ी जवाबदेही है।

—नवनीत कुमार झा, मधुबनी (बिहार)

गागर में सागर

● यदि पुराने मुहावरे में कहा जाए तो आप गागर में सागर भर देते हैं। आपने बाल साहित्य विशेषांक निकाला है, जिसमें मुक्तछंदीय कविताएं दी हैं। ओमप्रकाश कश्यप ने वैश्विक परिदृश्य में बाल साहित्य का आकलन किया है। भूमंडलीकरण व बाजारवाद के परिप्रेक्ष्य में उषा यादव ने हिंदी बाल कविता को चीन्हा है। किंकर पाल सिंह ने सुदीर्घ बाल ग़ज़लें ही कह दीं। ऐनफ्रेंक की क्रूर मृत्यु के बावजूद उसकी डायरी ने प्रतिभा का लोहा मनवा लिया—यह हरनारायण महाराज का कथ्य है। महेंद्र राजा जैन ने चित्रकथाओं को खंगाला है। प्रकाश मनु ने दामोदर अग्रवाल के बाल साहित्य से अवगत करया है। दीपक शर्मा की कहानी 'शामत' में यह बताया गया है कि यदि हम बच्चे के प्रति क्रूर रहते हैं तो फिर हमें अप्रत्याशित परिणाम के लिए भी तैयार रहना होगा। द्रोणवीर कोहली से साक्षात्कार ठोस व सार्थक है, जिससे उनका विपुल सृजन सामने आया है। कल्पनाथ सिंह की कहानी 'पीपल बाबा' वस्तुतः पर्यावरण संरक्षण की कथा है। चक्रधर नलिन ने शिशुगीत व ओम प्रकाश कादयान ने लोरियों के संसार में कदम रखा है। संजीव ठाकुर ने कहानियों व शकुंतला कालरा ने कथेतर को टटोला है। शेरजंग गर्ग ने *बचपन : एक समंदर* की समीक्षा से एक अद्‌भुत वृहद संकलन से रू-ब-रू कराया है।

—हितेश व्यास, कोटा

बाल मनोविज्ञान

● पढ़ाई जरूरी है मगर बाल मनोविज्ञान को जाने-समझे बिना उसे जानलेवा बना देना कोई अक्लमंदी नहीं है। दीपक शर्मा की कहानी 'शामत' इसी केंद्रीय भाव के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है। पेड़ की महिमा-गरिमा को अत्यंत संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है कल्पनाथ सिंह की कहानी 'पीपल बाबा'। 'चंदन नदी की जलपरी' (कहानी : विनायक) का कथ्य बालमन को भी छूता है और भाव आकर्षित करता है।

साक्षात्कार में द्रोणवीर कोहली 'बाल साहित्य को यथोचित महत्त्व नहीं दिया जाता'—का यह कथन बहुत हद तक तब से अब तक जस का तस है।

ओम प्रकाश कादयान की चिंता 'खत्म होती लोरियों की परंपरा' भावी पीढ़ी के प्रति गैर जवाबदेही की ही चिंता है। चक्रधर नलिन का लेख 'शिशुगीतों की दुनिया' शिशुगीत के महत्त्व को प्रभावशाली ढंग से रखता है। 'नन्ही लेखिका ऐनफ्रेंक' की डायरी का हर वाक्य सचमुच उसके हृदय की वाणी है। इस प्रस्तुति के लिए हरनारायण महाराज बधाई के पात्र हैं। निस्संदेह छोटे बच्चे चित्रमय पुस्तक को देखकर खूब खुश होते हैं। उनमें 'पढ़ने का आनंद' (लेख : महेंद्र राजा जैन) इसी रास्ते से जाग्रत किया जा सकता है। आइवर यूशिएल का लेख 'चित्रकथाएं : स्थिति और संभावनाएं' इस तथ्य को और स्पष्ट करता है।

रवि शंकर का 'वर्तमान परिवेश और बच्चों पर दबाव', अखिलेश श्रीवास्तव चमन का 'गिरफ्त में बचपन', ओम प्रकाश कश्यप का 'वैश्विक प्रभाव और हिंदी बाल साहित्य' एवं उषा यादव का 'वैश्वीकरण और हिंदी बाल कविता' लेख बच्चों के दुख-दर्द और उनके विकास के मार्ग के अवरोधक तत्त्वों पर गंभीरतापूर्वक चिंतन, चिंता और दिशा-संकेत कर देते हैं।

'बाल साहित्य के इतिहास पुरुष : दामोदर अग्रवाल' के बारे में प्रकाश मनु की कलम ने अच्छी जानकारी दी है। 'बच्चों को कहानियां क्यों सुनाएं' के बहाने संजीव ठाकुर ने बच्चों की दुनिया में बड़ों के अनावश्यक हस्तक्षेप को दूर करने की कोशिश की है। शकुंतला कालरा ने बाल साहित्य के क्षेत्र को विस्तृत भूमि दी है। हिंदी में अनूदित क्रोएशियाई बाल कविताओं का आस्वाद अच्छा है।

— राधेलाल 'नवचक्र', भागलपुर

बदलाव अपेक्षित

● रवि शर्मा ने बच्चों पर बढ़ते दवाब को वर्तमान समय में चिंता का विषय माना है। गीत एवं कविताओं के माध्यम से बाल साहित्य को अधिक-से-अधिक रोचक एवं रुचिकर बनाया जा सकता है। वर्तमान संदर्भ में चित्र कथाओं का महत्त्व भी कोई कम नहीं परंतु स्थिति एवं जरूरत के हिसाब से इसमें बदलाव अपेक्षित होता है।

—राकेश कुमार, नालंदा

कीर्ति स्तंभ

प्रगतिशीलता और शास्त्रीयता का समन्वय

वी. शांताराम

शांताराम प्रयोगधर्मी फिल्मकार थे। नई तकनीकों के प्रति जागरूकता एवं उत्सुकता उनमें सदैव बनी रही। नवीन तकनीकों के उपयोग की दृष्टि से वे अपने समकालीन फिल्मकारों से आगे रहे, बात चाहे कैमरे की कलाकारी की हो, चाहे इंद्रधनुषी रंगों की छटाओं की। 'अमृत मंथन' में धर्मोन्माद और सहिष्णुता में टकराव दिखाया गया है, जिसकी पृष्ठभूमि में एक उदारवादी राजा और कट्टरपंथी राजगुरु हैं। इसमें राजगुरु की भूमिका में अभिनेता चंद्रमोहन की आंखों का बड़ा क्लोज अप दिखाने के लिए शांताराम जर्मनी से टेलीफोटो लेंस लाए थे। रंगों के प्रति शांताराम में गहरी ललक थी। उन्होंने भारत की पहली रंगीन फिल्म- 'सैरंध्री' बनाने की कोशिश की। इसके लिए वे जर्मनी भी गए। इसमें उन्हें पूरी कामयाबी भले ही नहीं मिली, किंतु रंगों के प्रति उनके उत्साह में कमी नहीं आई। उनकी टेक्नीकलर फिल्म 'झनक झनक पायल बाजे' ने मानो सिनेमा में रंगों का बंद द्वार ही खोल दिया। इस फिल्म में रंगों की छटा अद्वितीय है। इसके इंद्रधनुषी दृश्यों ने दर्शकों को चमत्कृत कर दिया। उनकी फिल्मों में रंगों का समायोजन और कंट्रास्ट आज भी हमें सम्मोहित करता है। रंग-संवेदना की दृष्टि से शांताराम हिंदी सिनेमा में आज भी लासानी हैं। प्रख्यात फिल्मकार वी. शांताराम के बारे में बता रहे हैं **रमेश कुमार सिंह**

भारतीय सिनेमा की पहली पीढ़ी के जिन अनेक सिने-साधकों ने सीमित संसाधनों के बावजूद अपनी प्रतिभा और अनथक परिश्रम द्वारा इसे विश्व-सिनेमा के समानांतर और समकक्ष लाकर गौरवान्वित किया, उनमें 'चित्रपति' वी. शांताराम का नाम अग्रगण्य है। अगर हिंदी सिनेमा के लगभग एक शताब्दी के सफर का सिंहावलोकन करें, तो उसकी राह में यादगार फिल्मों के अनेकानेक मील के पत्थर दिखेंगे, झंझा-तूफानों में भी सतत गतिशील हजारों कला-पथिक दिखेंगे और दिखेंगे अपनी कृतियों की शाखा-प्रशाखाओं से शीतल-सुखद छांव देते वटवृक्ष की तरह मौन-प्राप्त कई-कई चित्रशिल्पी। और इनमें भी सबसे अनूठे दिखेंगे— वी. शांताराम!

सिनेमा के क्षेत्र में अतुलनीय कार्य के लिए नागपुर विश्वविद्यालय ने 1980 में इस 'चित्रपट-महर्षि' को डी. लिट. की उपाधि प्रदान की थी। इसे ग्रहण करते हुए उन्होंने सगर्व कहा था—'मेरे सामने यहां कई स्नातक बैठे हैं, जिन्होंने विभिन्न विषयों पर अनुसंधानात्मक प्रबंध लिखकर 'डाक्टरेट' प्राप्त की है। उन्हें यह उपाधि प्राप्त करने के लिए हाईस्कूल से निकलने के बाद दस-ग्यारह वर्ष लगे होंगे, किंतु 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की यह सम्मानार्थ उपाधि मुझे पूरे साठ साल बाद प्राप्त हुई है। लेकिन उसके लिए आवश्यक निबंध मैंने कागज पर नहीं, बल्कि सेल्युलाइड पर दृश्य तथा श्रव्य रूप में लिखा है। अतः मेरी मान्यता है कि मैं इस उपाधि के लायक हूं।' इस तरह डाक्टरेट की मानद उपाधि पाने वाले शांताराम की औपचारिक शिक्षा अधूरी ही रही थी। किंतु इसकी क्षतिपूर्ति उन्होंने जिंदगी की पाठशाला में कठोर परिश्रम से हासिल अनुभवों से कर ली। वे आजीवन स्वाध्यायी और साहित्यानुरागी रहे। शांताराम निर्देशित 'दुनिया न माने', 'शकुंतला' और 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' साहित्यिक कृतियों पर आधारित फिल्में हैं। उनकी कई फिल्में सिनेमा शैली में लिखी गई कविता जैसी लगती हैं!

कोल्हापुर, महाराष्ट्र के एक निर्धन परिवार में 18 नवंबर, 1901 को जन्मे शांताराम को किशोरावस्था में कदम रखते ही जीवनयापन के लिए संघर्ष करना पड़ा। पहले उन्होंने बाल गंधर्व की नाटक मंडली में काम किया और फिर रेलवे में। गंधर्व नाटक मंडली में उन्हें कुछ विशेष शिक्षा तो नहीं मिली किंतु नृत्य, गायन और अभिनय में उनकी रुचि जगी और बाल गंधर्व का गायन सुनकर शास्त्रीय संगीत के प्रति भी रुझान हुआ। यहां नाटकों में उन्हें स्त्री की भूमिका करनी पड़ती थी, जिससे चिढ़कर उन्होंने एक ही साल में नाटक मंडली छोड़ दी। इसके बाद वे हुबली के रेलवे वर्कशाप में फिटर के रूप में काम करने लगे। इसी दरम्यान वे रात में एक सिनेमा घर में डोर-कीपर का काम भी बिना वेतन ही करने लगे, क्योंकि वहां उन्हें मुफ्त में देश-विदेश की फिल्में देखने को मिलती थीं। इनमें भारतीय सिनेमा के शैशवकाल की दादा साहब फाल्के की फिल्में भी शामिल थीं, जिनका शांताराम के किशोर-मन पर अमिट प्रभाव पड़ा। तभी एक दुर्घटना हुई और रेलवे वाली उनकी नौकरी छूट गई।

1920 में शांताराम अपने मौसेरे भाई बाबूराव पेंढारकर के साथ काम की तलाश में महाराष्ट्र फिल्म कंपनी के संचालक बाबूराव पेंटर के पास गए। बाबूराव पेंटर शांताराम के कलागुरु बने, जिनसे शांताराम ने फिल्म-निर्माण का संपूर्ण प्रशिक्षण पाया। इस स्टूडियो में उन्होंने सिनेमा से

रमेश कुमार सिंह सुपरिचित लेखक हैं।

संबंधित छोटे-बड़े सभी काम पूरी श्रद्धा और लगन से किए और इस कला के प्रत्येक पक्ष को समझा। यहीं उन्होंने अभिनय, संपादन एवं सिनेमैटोग्राफी में महारत हासिल की और निर्देशन के गुर भी सीखे। फिल्म-इतिहासकार फिरोज रंगूनवाला के अनुसार, 'फाल्के की तरह शांताराम की कहानी भी भारतीय फिल्मों के इतिहास में अलग अध्याय के रूप में लिखी जाएगी। और उनकी बाद की कामयाबी निश्चित रूप से उस ट्रेनिंग का नतीजा है जो उन्हें पेंटर के आत्मनिर्भर स्टूडियो में फिल्म-निर्माण के हर पहलू के बारे में मिली थी।'

महाराष्ट्र फिल्म कंपनी में काम की अवधि (1921-1929) शांताराम की शून्य से शिखर तक की यात्रा की अवधि है। इस दरम्यान पेंटर निर्देशित कुछ पौराणिक-ऐतिहासिक फिल्मों में छिटपुट भूमिकाओं के बाद उन्होंने मूक फिल्म 'सावकारी पाश' में एक शोषित किसान की उल्लेखनीय भूमिका निभाई। 1925 की पेंटर निर्देशित यह फिल्म भारतीय सिनेमा के इतिहास में प्रथम यथार्थवादी फिल्म मानी जाती है। किसानों की दारुण स्थिति और उनके प्रति साहूकारों की निर्दयता के कथानक के आधार पर इसे सिनेमा का *गोदान* कहा जा सकता है। ख्वाजा अहमद अब्बास के शब्दों में, 'इस फिल्म में कर्ज के बोझ से दबे हुए किसानों की दयनीयता को पर्दे पर उतारा गया जिसमें यथार्थ का रूप कटु तथा स्पष्ट था।' यह फिल्म बहुप्रशंसित हुई और इससे शांताराम को सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में सिनेमा की उपयोगिता का अहसास हुआ।

महाराष्ट्र फिल्म कंपनी की ही फिल्म 'नेताजी पालकर' (1927) से शांताराम ने निर्देशन की शुरूआत की। यह एक ऐतिहासिक फिल्म थी, जो सफल रही। इस फिल्म से ही शांताराम की निर्देशकीय प्रतिभा की झलक मिल गई थी।

1929 में शांताराम महाराष्ट्र फिल्म कंपनी से अलग हो गए। उन्होंने और बाबूराव पेंटर स्कूल के उनके साथी-विष्णु गोविंद दामले, शेख यास्मिन फोलाल और केशवराव धायबर ने मिलकर 'प्रभात फिल्म कंपनी' की स्थापना की और सृजन के सहयात्री बने। सीताराम कुलकर्णी इस कंपनी में पूंजी लगाने वाले साझीदार बने। इन उत्साही लोगों के पास भौतिक पूंजी भले ही नाममात्र की थी, किंतु ये सिनेमा के क्षेत्र में भली-भांति प्रशिक्षित और नवोन्मेषी थे। शांताराम अपने अनुभव और कौशल के आधार पर इस टीम के अघोषित अगुवा थे। प्रभात के लिए उन्होंने 'अयोध्या का राजा', 'जलती निशानी', 'माया मछिंदर', 'सैरंध्री', 'अमृत मंथन', 'अमर ज्योति', 'दुनिया न माने' आदि फिल्मों का निर्देशन किया। इन फिल्मों ने न केवल प्रभात फिल्म कंपनी को सुदृढ़ता प्रदान की, बल्कि अपने कथानक, नई तकनीकों के प्रयोग और गीत-संगीत के आधार पर ये सिनेमा की विकास-यात्रा में भी मील का पत्थर साबित हुईं।

प्रभात की 'दुनिया न माने', 'आदमी', 'पड़ोसी' जैसी फिल्मों से शांताराम की छवि प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले विचारक निर्देशक के रूप में स्थापित हुई। 'दुनिया न माने' (1937) एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो दृढ़ता से स्वयं पर आरोपित अनमेल विवाह को अस्वीकार कर देती है। स्त्री-विमर्श की दृष्टि से यह अपने जमाने से बहुत आगे की फिल्म थी। 'जिंदगी हर हाल में जीने के



कीर्ति-स्तंभ लेखमाला में अब तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सुमित्रानंदन पंत, अमृतलाल नागर, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुभद्रा कुमारी चौहान, पृथ्वीराज कपूर, हरिवंशराय बच्चन, भवेशचंद्र सान्याल, विष्णु दिगंबर पलुस्कर, मैथिलीशरण गुप्त, यशपाल, दिनकर, धूमिल, देवेंद्र सत्यार्थी, बिमल राय, उस्ताद अलाउद्दीन खां, फणीश्वरनाथ रेणु, निर्मल वर्मा, गुरुदत्त, गोपाल सिंह नेपाली, विष्णु प्रभाकर, अमृता शेरगिल, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मेघनाद साहा और गजानन माधव मुक्तिबोध के व्यक्तित्व व कृतित्व का परिचय दिया जा चुका है। इस बार के व्यक्तित्व हैं प्रख्यात फिल्मकार **वी. शांताराम**

हिंदी साहित्य, कला और संस्कृति ने प्रगति और विकास के जो सोपान तय किए हैं उसके मूल में चिंतकों, मनीषियों, साहित्यकारों और विविध कला-विधाओं से जुड़े संस्कृतिकर्मियों का अमूल्य योगदान रहा है। इन क्षेत्रों में ऐसे अनेक मूर्धन्य साहित्यकार और कलाकार हुए हैं जिन्होंने अपनी तरह से साहित्य और कला के नए मानदंड स्थापित किए। इन महापुरुषों ने अपनी-अपनी विधाओं में ऐसे मानक प्रस्तुत किए, जो नए रचनाकारों और कला-संस्कृति के क्षेत्र के नए यात्रियों के लिए निकष भी हैं और प्रेरणा-स्रोत भी। कीर्ति-स्तंभ लेखमाला साहित्य, चित्रकला, संगीत, स्थापत्य कला, फिल्म और रंगमंच आदि क्षेत्रों के इन महान साहित्यकारों, कलाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व को लेकर प्रकाशित की जा रही है।

लिए है'—का संदेश देने वाली फिल्म 'आदमी' (1939) उन्होंने, उनके अनुसार, न्यू थियेटर की 'पलायनवादी' फिल्म 'देवदास' की प्रतिक्रिया में बनाई थी। प्रमथेश चंद्र बरुआ से यह उनकी स्वस्थ वैचारिक प्रतिस्पर्द्धा थी। इसमें द्वेष नहीं था।

प्रभात की फिल्म 'अयोध्या का राजा' (मराठी में 'अयोध्येचा राजा') से अभिनेत्री के रूप में कैरियर की शुरूआत करने वाली दुर्गा खोटे ने अपनी आत्मकथा में इस फिल्म के निर्माण के दिनों को याद करते हुए वी. शांताराम के बारे में श्रद्धापूर्वक लिखा है— 'शांताराम बापू बड़े कठोर गुरु हैं। छोटी-सी भी गलती हो तो वह 'चल जाएगा' कहकर चला नहीं लेते, उसे सही करवाकर ही दम लेते हैं। शांताराम बापू ने मुझे सिखाया कि अभिनय में वास्तविकता तो हो ही, साथ में आकर्षण भी हो। भावनाओं पर नियंत्रण रखकर उन्हें संयमपूर्वक आकर्षक ढंग से कैसे दिखाना चाहिए, यह मुझे मेरे इन गुरुदेव ने बड़े परिश्रमपूर्वक सिखाया। मेरा उन्हें शत-शत प्रणाम!' दुर्गा खोटे की तरह, शांताराम के प्रति और भी अनेक कलाकारों ने ऐसे ही शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की है, जिनके व्यक्तित्व-निर्माण में शांताराम की फिल्मों का योगदान रहा।

शांताराम अपने सुदर्शन व्यक्तित्व से सहज ही लोगों को आकर्षित-प्रभावित कर लेते थे। किंतु यह आकर्षण हमेशा इकतरफा ही नहीं रहा। सौंदर्यप्रेमी शांताराम जीवन में अनेक बार प्रेम में पड़े, उन अभिनेत्रियों से भी, जिन्हें उन्होंने ही रुपहले पर्दे पर नवजीवन दिया था। मानो कृतिकार अपनी ही कृति से सम्मोहित हो जाए! और इन प्रेम-प्रसंगों में उम्र और उम्र का फासला अप्रासंगिक हो गया। उन्होंने तीन बार विवाह किए। 1921 में विमल उनकी धर्मपत्नी बनीं। बीस साल बाद 1941 में उन्होंने अभिनेत्री जयश्री से प्रेम विवाह किया। 1956 में जयश्री से अलगाव के बाद अभिनेत्री विजया देशमुख उर्फ संध्या उनकी जीवन-संगिनी बनकर आईं। शांताराम का बहुविवाहित जीवन विवादास्पद रहा, किंतु अंततः उसे स्वीकृति मिली—समाज से और परिवार से भी। उनकी पुत्री और प्रख्यात शास्त्रीय गायक पं. जसराज की पत्नी—मधुरा जसराज ने —अपने पिता जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों के बारे में प्रचलित लोकापवाद के संदर्भ में उनका बचाव करते हुए कहा है—'सत्यजित राय के माधबी मुखर्जी के साथ प्रेम संबंध की चर्चा इसलिए की जाती है कि वे सत्यजित राय थे और वे माधबी थीं। बहुत-से ऐसे लोग हैं जो किसी काम के नहीं होते और जिनके दर्जनों अफेयर होते हैं, फिर भी लोग उनके बारे में कुछ भी नहीं कहते। प्रसिद्ध व्यक्तियों के विषय में लोग उनकी कला के अतिरिक्त अन्य चीजों पर ध्यान देते हैं। अगर ऐसे निंदक किसी कलाकार की रचनशीलता का अनादर करते हैं और उसे नष्ट करना चाहते हैं, तो बेटी, पत्नी और मित्र के रूप में हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन (कलाकारों) का ध्यान रखें और उनके मूल्यों का समर्थन करें।'

प्रभात के दिनों में जयश्री से प्यार के कारण शांताराम का अपने साझीदारों से बिगाड़ हो गया। उन्हें प्रभात फिल्म कंपनी छोड़नी पड़ी। प्रतिभाशाली शांताराम का प्रभात से अलगाव अंततः इस फिल्म कंपनी के लिए भारी पड़ा। उनके जाने के बाद प्रभात धीरे-धीरे प्रभाहीन हो गया।

शांताराम ने 1942 में 'राजकमल कला मंदिर' की स्थापना की। राजकमल का नामकरण उन्होंने अपने पिता राजाराम और माता कमलादेवी के नाम पर किया। शांताराम का पूरा नाम शांताराम राजाराम वणकुद्रे था। वणकुद्रे उनका कुल-नाम था। बाबूराव पेंढारकर ने इसका वी अक्षर पहले करके उनका नाम वी. शांताराम कर दिया था। शांताराम ने अपने प्रथम पुत्र का नाम प्रभात कुमार रखा—'प्रभात फिल्म कंपनी' के नाम पर! यह भी एक साक्ष्य है— उनकी कला एवं जीवन की एकमेवत्ता का, अपनी कृतियों तथा संस्थाओं से संतानवत स्नेह का!

ऐसे ही, शांताराम की फिल्मों के शीर्षकों में भी सौंदर्य है, अर्थवत्ता है! उन्होंने फिल्मों के बड़े-बड़े नाम रखने की परंपरा शुरू की। 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी', 'दो आंखें बारह हाथ', 'झनक-झनक पायल बाजे', 'गीत गाया पत्थरों ने', 'जल बिन मछली नृत्य बिन बिजली' जैसी फिल्मों के विस्तृत शीर्षकों में उनके कथानक का सार समाहित है। दूसरी ओर, 'दुनिया न माने, आदमी', 'पड़ोसी', 'दहेज', 'नवरंग' जैसी फिल्मों के कथा-बीज उनके छोटे-छोटे शीर्षकों में मौजूद हैं।

शांताराम सरीखे सामाजिक चेतना-संपन्न फिल्मकार आजादी की लड़ाई और समाज-सुधार आंदोलन से भला कैसे अप्रभावित रहते! महात्मा गांधी और मराठी संतों का प्रभाव उनकी कई फिल्मों में दिखता है। ब्रिटिश सरकार के दुराग्रह के कारण उनकी फिल्म 'महात्मा' का नाम 'धर्मात्मा' करना पड़ा। महात्मा शब्द से अंग्रेजों को गांधी का खौफ हुआ! समाज में फैली बुराइयों पर प्रहार करने वाली 'दुनिया न माने', 'आदमी' और 'पड़ोसी' जैसी शांताराम की फिल्मों के बारे में विख्यात फिल्मकार गोविंद निहलानी का मानना है कि इनसे 'उपनिवेश भारत में सामाजिक सुधार वाली फिल्मों की एक ऐसी परंपरा पनपी, जिसने सांस्थानिक पुनर्सुधार पर ज्यादा जोर दिया।' इसी क्रम में 1950 की उनकी फिल्म 'दहेज' भी उल्लेखनीय है, जो इस कुप्रथा को मार्मिक ढंग से दिखाती है।

इसी तरह 1940 के दशक में, जब देश में सांप्रदायिकता की समस्या उफान ले रही थी, शांताराम की एक फिल्म आई थी—'पड़ोसी'। हिंदू-मुसलमानों के बीच फूट डालने वाले स्वार्थी तत्वों को इंगित कर इन दोनों समुदायों में भावनात्मक एकता की मार्मिकता दिखाने वाली यह फिल्म आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। ख्वाजा अहमद अब्बास ने इसे हिंदू-मुस्लिम एकता के विषय पर बनी एक सार्थक फिल्म बताया है। उनके अनुसार, 'यह फिल्म अतिरिक्त उपदेशात्मकता के स्वर से मुक्त थी। इसमें नाटकीय तत्वों की गतिशीलता अधिक थी।'

शांताराम की एक और कालजयी फिल्म 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' इसी अवधि (1946) में आई। युद्धग्रस्त चीन में भारत से गए एक सेवाभावी डाक्टर के बलिदान की सच्ची कहानी पर आधारित यह फिल्म करुणा, सहयोग और साहस की भावना वाली उदात्त भारतीय मानसिकता का अप्रकट बखान तो करती ही है, यह भी दिखाती है कि कैसे एक फिल्म दो देशों के बीच सांस्कृतिक सेतु भी बन सकती है। यह फिल्म चीन विरोधी पाश्चात्य देशों में भी सराही गई थी। बहरहाल, भारत-चीन युद्ध (1962) के बाद हिंदी-चीनी भाई-भाई की भावना भले ही ध्वस्त हो गई, किंतु आज भी चीन के जन-मन में डाक्टर द्वारकानाथ कोटनीस के प्रति श्रद्धा और प्यार है और उनकी तरह उन पर बनी यह फिल्म भी जीवनीपरक सिनेमा के इतिहास में अमर रहेगी।

अति महत्त्वाकांक्षी और धुन के पक्के शांताराम फिल्मकार के रूप में अनूठे थे। उनकी बहुआयामी प्रतिभा, फिल्म-निर्माण में उनकी लय, गति तथा संतुलन और समय के प्रति अति संवेदनशीलता उन्हें दूसरे फिल्मकारों से अलग करती है। अपने समकालीनों में किसी एक से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। फिल्म-मर्मज्ञ प्रह्लाद अग्रवाल लिखते हैं— 'विविध विस्मयकारी उपलब्धियों के समुच्चय हैं वी. शांताराम—जिनमें प्रमथेश चंद्र बरुआ का आदमकद यथार्थ, देवकी बोस की सांस्कृतिक गहनता, महबूब की चामत्कारिक भव्यता, गुरुदत्त के मानिंद परफेक्शन के लिए कठोरतम आग्रह, राजकपूर का गहन रोमांटिक आस्वाद— और इस समुच्चय के शिखर पर समष्टि सौंदर्य का कला बनकर शोभायमान है गांधी का व्यावहारिक

आदर्शवाद–संपूर्ण निष्ठा और गरिमा के साथ।'

विख्यात फिल्म समीक्षक ब्रजेश्वर मदान ने शांताराम को हिंदी फिल्मों का स्पीलबर्ग कहा है। युवा कवि यतींद्र मिश्र ने उनकी तुलना महान जापानी फिल्मकार कुरोसावा से करते हुए लिखा है– 'एक हद तक वी. शांताराम हिंदी सिनेमा के आरंभिक काल के कुरोसावा माने जा सकते हैं। कुरोसावा इस अर्थ में कि जिस तरह उन्होंने विश्व सिनेमा के बड़े परिदृश्य पर अपनी मौलिक शैली के चलते एशिया के सिनेमा-जगत को मुखरता से पहचान दिलाई है, यही काम कमोबेश भारत में हिंदी भाषा के सिनेमा को उसकी जातीय पहचान एवं लोक संस्कार देने में वी. शांताराम ने किया है।'



फिल्म 'दो आंखें बारह हाथ' में खिलौने वाली की भूमिका में संध्या

मनमोहन चड्ढा ने अपनी पुस्तक *हिंदी सिनेमा का इतिहास* में न्यू थियेटर्स के नितिन बोस और वी. शांताराम की समानताओं को इंगित किया है– 'दोनों ही ने फिल्म तकनीक के उच्च स्तर को प्राप्त किया। भावनात्मक कल्पना की मौलिकता का अभाव इनकी विशेषता रही, लेकिन इन दोनों में साहित्यिक रचनाओं (जरूरी नहीं कि वे प्रकाशित पुस्तकें ही हों) में गहनतम मानवीय मूल्यों को पकड़ पाने और उसे सिनेमा की भाषा में व्यक्त करने की भरपूर क्षमता थी। दोनों ही ने बहुत-से लेखकों के साथ काम किया और लंबा ऊर्जस्वी रचनात्मक जीवन जिया। दोनों ही धीरे-धीरे फिल्म तकनीक और भावप्रवणता पर अपनी पकड़ खोते चले गए।'

शांताराम प्रयोगधर्मी फिल्मकार थे। नई तकनीकों के प्रति जागरूकता एवं उत्सुकता उनमें सदैव बनी रही। नवीन तकनीकों के उपयोग की दृष्टि से वे अपने समकालीन फिल्मकारों से आगे रहे, बात चाहे कैमरे की कलाकारी की हो, चाहे इंद्रधनुषी रंगों की छटाओं की। 'अमृत मंथन' (1934) में धर्मोन्माद और सहिष्णुता में टकराव दिखाया गया है, जिसकी पृष्ठभूमि में एक उदारवादी राजा और कट्टरपंथी राजगुरु हैं। इसमें राजगुरु की भूमिका में अभिनेता चंद्रमोहन की आंखों का बड़ा क्लोजअप दिखाने के लिए शांताराम जर्मनी से टेलीफोटो लेंस लाए थे। रंगों के प्रति शांताराम में गहरी ललक थी। 1933 में उन्होंने भारत की पहली रंगीन फिल्म 'सैरंध्री' बनाने की कोशिश की। इसके लिए वे जर्मनी भी गए। इसमें उन्हें पूरी कामयाबी भले ही नहीं मिली, किंतु रंगों के प्रति उनके उत्साह में कमी नहीं आई। 1955 में उनकी टेक्नीकलर फिल्म 'झनक झनक पायल बाजे' ने मानो सिनेमा में रंगों का बंद द्वार ही खोल दिया। इस फिल्म में रंगों की छटा अद्वितीय है। इसके इंद्रधनुषी दृश्यों ने दर्शकों को चमत्कृत कर दिया। उनकी फिल्मों में रंगों का समायोजन और कंट्रास्ट आज भी हमें सम्मोहित करता है। रंग-संवेदना की दृष्टि से शांताराम हिंदी सिनेमा में आज भी लासानी हैं।

शांताराम एक सशक्त अभिनेता भी थे। उनकी अभिनय-यात्रा की शुरूआत महाराष्ट्र फिल्म कंपनी की फिल्म 'सुरेखा हरण' (1921) से हुई। बाबूराव पेंटर की ही फिल्म 'सावकारी पाश' में एक दरिद्र किसान की उनकी भूमिका प्रशंसित हुई। प्रभात फिल्म कंपनी की फिल्म 'रानी साहबा' और 'उदयकाल' में भी उन्होंने अभिनय किया।

राजकमल कलामंदिर के बैनर तले स्वयं निर्देशित फिल्म– 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' में कर्त्तव्यनिष्ठ डाक्टर का अभिनय और 'दो आंखें बारह हाथ' में सुधारवादी जेलर का उनका रोल यादगार है। किंतु अभिनय उनकी प्राथमिकता नहीं थी। वे स्टार-मेकर थे, लेकिन सिनेमा में स्टार-सिस्टम के खिलाफ थे। इसलिए अपनी अधिकतर फिल्मों में उन्होंने उन अभिनेताओं से काम लिया जिनकी छवि बड़े स्टार की नहीं थी। उनमें साधारण अभिनेताओं से भी असाधारण भूमिकाएं करा लेने का आत्मविश्वास था। कई बार उन्हें अपनी फिल्मों में मजबूरी में अभिनय करना पड़ा। लेकिन उनके सधे-संतुलित अभिनय को देखकर नहीं लगता कि वे कोई अनिच्छुक अभिनेता थे। हर काम की तरह, अभिनय से पहले भी वे विचार-मंथन करते और चरित्र की गहराई में जाकर उसे जीवंत ढंग से पर्दे पर उतार देते थे। फिल्म 'स्त्री' (1960) के बाद शांताराम ने किसी फिल्म में अभिनय नहीं किया। बहरहाल, अभिनेता शांताराम का कद निर्देशक शांताराम से छोटा है। आखिर कोई कितने क्षेत्रों में शीर्ष पर रह सकता है!

शांताराम की फिल्में मधुर गीत-संगीत के लिए भी याद की जाती रहेंगी। उन्हें संगीत की गहरी समझ थी और वे संगीतकारों को अपनी राय देते थे। उन्होंने अपनी फिल्मों में शास्त्रीय संगीत पर आधारित धुनों को महत्त्व दिया। 'झनक-झनक पायल बाजे' और 'नवरंग' के अधिकतर गीत शास्त्रीय संगीत पर आधारित हैं।

उनकी फिल्म 'दो आंखें बारह हाथ' का 'ऐ मालिक तेरे बंदे हम' जैसा प्रार्थना-गीत हिंदी सिनेमा में कोई दूसरा नहीं। इसे असाधारण लोकप्रियता मिली है। स्कूलों में बच्चे इसे प्रार्थना के रूप में गाते हैं। सर्वशक्तिशाली ईश्वर से मनोमालिन्य को दूर करके समार्ग पर अग्रसर करने के आग्रह, सरल विश्वास और समर्पण के अकुंठ भाव के कारण यह प्रार्थना-गीत सार्वकालिक बन गया है। इस मानवतावादी फिल्म के इस गीत के अंतिम अंतरे में गांधी-दर्शन की झलक देखें–'जब जुल्मों का हो सामना/तब तू ही हमें थामना/वो बुराई करें हम भलाई करें/नहीं बदले की हो कामना/बढ़ उठे प्यार का हर कदम/और मिटे बैर का ये भरम/नेकी पर चलें और बदी से टलें/ताकि हंसते हुए निकले दम/ऐ मालिक तेरे बंदे हम।'

इस प्रार्थना-गीत को लिखा था भरत व्यास ने और इसके संगीतकार

थे—वसंत देसाई। ये दोनों शांताराम के प्रिय गीतकार-संगीतकार थे। भरत व्यास के गीतों में लालित्यपूर्ण हिंदी शब्दों का प्रयोग मिलता है। शांताराम की फिल्म 'नवरंग' में उनके लिखे गीत—'अरे जा रे हट नटखट' को सर्वश्रेष्ठ फिल्मी होली गीत और फिल्म 'दो आंखें बारह हाथ' के ही गीत— 'उमड़ घुमड़ कर आई रे घटा' को सर्वश्रेष्ठ वर्षा गीत माना जाता है। फिल्म 'स्त्री' का उनका गीत- 'आज मधु वातास डोले', 'नवरंग' का 'आधा है चंद्रमा रात आधी' कानों में शहद घोलते हैं। फिल्म 'नवरंग' में शांताराम ने भरत व्यास की एक प्रकाशित हास्य कविता—'कवि राजा कविता के मत अब कान मरोड़ो' का सुंदर इस्तेमाल किया है।

संगीतकार वसंत देसाई और शांताराम का लंबे समय तक साथ रहा। वसंत देसाई की शास्त्रीय संगीत में गहरी पैठ थी और उनकी प्रतिभा को निखारने में शांताराम का अहम योगदान था। वसंत देसाई ने शांताराम की 'शकुंतला', 'अमर भूपाली', 'तूफान और दिया', 'झनक झनक पायल बाजे', 'दो आंखें बारह हाथ, लड़की सह्याद्रि की' आदि अनेक हिंदी-मराठी फिल्मों में यादगार संगीत दिया।

शास्त्रीय संगीत की तरह शास्त्रीय नृत्य से भी शांताराम का गहरा अनुराग था। उन्होंने अपनी सभी फिल्मों में भाव-भंगिमाओं के संप्रेषण के लिए नृत्य का सुंदर उपयोग किया है। उनकी फिल्म 'झनक-झनक पायल बाजे', 'नवरंग' और 'जल बिन मछली नृत्य बिन बिजली' की गिनती हिंदी की प्रमुख नृत्य प्रधान फिल्मों में की जाती है। इन तीनों फिल्मों की नायिका हिंदी सिनेमा की संभवतः सबसे कुशल नर्तकी संध्या थीं। शांताराम ने संध्या की अद्‌भुत नृत्य-निपुणता का अपनी फिल्मों में सार्थक उपयोग किया है।

फिल्म 'झनक-झनक पायल बाजे' में नायक महान कत्थक नर्तक गोपीकृष्ण थे। इस फिल्म में राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर, मेनका-विश्वामित्र आदि पौराणिक चरित्रों पर आधारित शास्त्रीय नृत्य हैं। फिल्म 'नवरंग' में संध्या एक कवि की पत्नी की भूमिका में हैं। वह कवि की कल्पना और प्रेरणा हैं तथा यथार्थ भी। 'श्यामल-श्यामल बरन', 'तू छुपी है कहां', 'आधा है चंद्रमा रात आधी' जैसे गीतों पर संध्या के आकर्षक नृत्य हैं। किंतु इस फिल्म के यादगार नृत्य 'आधा है चंद्रमा' और 'अरे जा रे हट नटखट' गीत पर आधारित हैं। होली के दृश्य में संध्या ने कृष्ण और राधा के भावों को एकाकार करते हुए मोहक नृत्य किया है। 'आधा है चंद्रमा' में उन्होंने कई कलशों को सिर पर रखकर कमाल के संतुलन के साथ नृत्य किया है।

फिल्म 'जल बिन मछली नृत्य बिन बिजली' में एक नर्तकी की अपनी कला के प्रति अटूट लगन की कहानी है। संध्या ने इसमें विविध शैली के नृत्य प्रदर्शित किए हैं। इसी तरह उन्होंने 'दो आंखें बारह हाथ' में खिलौने वाली की भूमिका में संध्या पर कुछ नृत्य-गीत फिल्माए हैं। कुछ समीक्षकों ने इस यथार्थवादी फिल्म में खिलौने वाली के चरित्र की आवश्यकता पर ही प्रश्न उठाए हैं। बहरहाल, शास्त्रीय, अर्द्ध-शास्त्रीय और तमाशा जैसे लोकनृत्यों तथा संगीत की विरासत को रुपहले पर्दे पर जीवंत करके सहेजने में शांताराम के महान योगदान पर कभी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

मराठी सिनेमा के विकास में भी शांताराम की अहम भूमिका रही है। उन्होंने अपनी कई फिल्में हिंदी और मराठी दोनों भाषाओं में बनाईं। उनकी निर्देशित 'दुनिया न माने', 'आदमी' और 'पड़ोसी' के मराठी शीर्षक क्रमशः 'कुंकू', 'मानुष' और 'शेजरी' थे। प्रभात फिल्म कंपनी के बैनर तले 1932 में आई उनकी फिल्म 'अयोध्येचा राजा' मराठी की पहली बोलती फिल्म थी। मराठी की पहली ईस्टमैनकलर फिल्म 'पिंजरा' (1972) बनाने का श्रेय भी उन्हीं को है। उनकी फिल्म 'मतवाला' 'शायर राम जोशी' (1947) से मराठी में महाराष्ट्र की लोककला तमाशा पर आधारित फिल्मों की परंपरा शुरू हुई। यह फिल्म वहां के एक लोक कवि के जीवन पर बनी थी।

शांताराम का हिंदी-प्रेम भी अनुकरणीय है। फिल्मों में वे सहज हिंदी के हिमायती थे। उनकी फिल्मों के गीत-संगीत और संवाद में उनका हिंदी-अनुराग झलकता है। वरिष्ठ समीक्षक विश्वनाथ गुप्त के अनुसार, 'शांताराम जी का हिंदी प्रेम कभी भुलाया नहीं जा सकता। मराठी भाषी होने पर भी हिंदी भाषा के प्रति उनका अगाध प्रेम था। जहां दूसरे निर्माता अपनी फिल्मों की शुरूआत में नामावली अंग्रेजी में देना गौरव की बात समझते थे (और आज भी समझते हैं) वहां शांताराम अपनी फिल्मों की नामावली हिंदी में देते थे। इतना ही नहीं, अपनी फिल्म 'तीन बत्ती चार रास्ता' में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि हिंदी में ही सब भाषाएं समाहित हैं।' क्षेत्रीय भाषाओं की अपेक्षा हिंदी के विशाल दर्शक-वर्ग तक पहुंच के तथ्य ने भी इस चतुर फिल्मकार को आकृष्ट किया होगा। इसी संदर्भ में मानिक बच्छावत ने लिखा है—'सिनेमा और हिंदी दोनों ने एक-दूसरे की अपार लोकप्रियता की लहरों पर सवार होकर नए कीर्तिमान स्थापित किए। अभिव्यक्ति के अखिल भारतीय माध्यम के रूप में हिंदी फिल्मों के असाधारण महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए ही वी. शांताराम, पी.सी. बरुआ, बिमल राय, सत्यजित राय, श्याम बेनेगल तथा भूपेन हजारिका प्रभृति सिनेमा संसार के दिग्गजों ने हिंदी सिनेमा से जुड़ना महत्त्वपूर्ण समझा।'

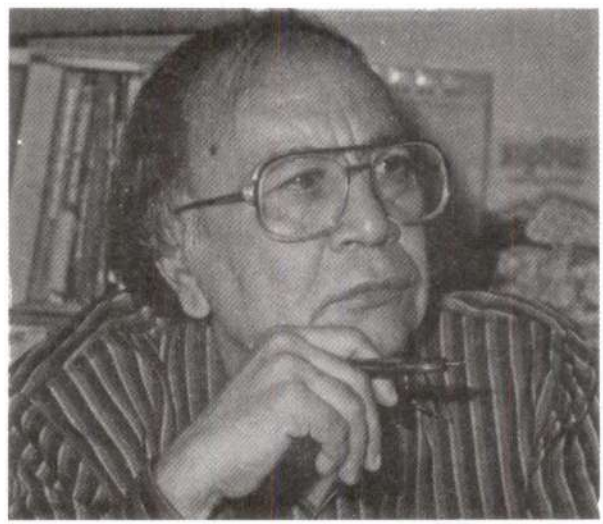
श्रमजन्य आत्मविश्वास के कारण शांताराम निर्भय और निरंकुश रहे। वह सिनेमा को एक लोकतांत्रिक कला मानते थे। फिर भी, अनुशासन के नियम को वे स्वयं पर उतनी ही कठोरता से लागू करते थे जितनी अपनी फिल्म-यूनिट के सदस्यों पर। सिनेमा में 'सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्' की भावना की प्रस्तुति उनका आदर्श था। किंतु तमाम आदर्शों के बावजूद सिनेमा एक व्यवसाय है, इस यथार्थ की उन्होंने कभी उपेक्षा नहीं की। उनके अनुसार, किसी भी फिल्म से दर्शकों का संतुष्ट होना आवश्यक है ताकि निर्माता आगे भी फिल्म बना सके। अपनी प्रतिभा और परिश्रम की पूंजी से उन्होंने जो भी अर्जित किया, उसे भारतीय सिनेमा के विकास के लिए समर्पित कर दिया। उनके द्वारा स्थापित 'वी. शांताराम चलचित्र, शास्त्रीय अनुसंधान व सांस्कृतिक प्रतिष्ठान' सिनेमा के शोधार्थियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण संस्थान है।

फिल्मी पत्रिका *फिल्म इंडिया* के संपादक बाबूराव पटेल जैसे शांताराम के कुछ समकालीन समीक्षकों ने उनकी फिल्मों की पूर्वाग्रहग्रस्त आलोचना की। शांताराम उनसे बेपरवाह रहे। प्रभात के दिनों से ही शांताराम ने लोकरुचिकर और कलात्मक फिल्मों के निर्माण का क्रम जारी रखा। कभी-कभी लगता है कि शांताराम ने ऐसा निर्धारित रणनीति से किया। 'शकुंतला' के बाद 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' आई और 'झनक-झनक पायल बाजे' के बाद 'दो आंखें बारह हाथ'। किंतु उनके लंबे रचनात्मक सफर के अंतिम दशकों में यह क्रम टूट गया। वे काल्पनिक कथानकों और शृंगार रस प्रधान प्रस्तुतियों की दिशा में स्थायी रूप से मुड़ गए। यहां वे थके-थके भी दिखते हैं, उनकी कृतियों में प्राणतत्व की कमी महसूस होने लगती है। मानो वे स्वयं को भूलकर दूसरों की नकल कर रहे हों, होड़ ले रहे हों सस्ती लोकप्रियता के लिए। शांताराम 'शांताराम टच' के लिए खुद ही मुहताज-से दिखते हैं यहां! किंतु उनकी कृतियों का संपूर्णता से आकलन करें तो उनकी यथार्थवादी फिल्में ही अधिक प्रभावशाली हैं। ब्रजेश्वर मदान ने शांताराम की फिल्मों में शृंगार रस और सामाजिक दृष्टि में विपर्यय

पृष्ठ 20 पर जारी

संघर्षों से घिरा एक जिंदादिल लेखक

अनेकानेक लोगों के प्रिय लेखक यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' का संपूर्ण लेखन उसी बड़े असहाय शोषित वर्ग के लिए है। उन्होंने प्रेमचंद ही की भांति जनभाषा में अपनी बात, अपनी कहानियों में कही है ताकि उन्हें पढ़ने-समझने में 'फालतू वाली कला' आड़े नहीं आए। चंद्र जी के व्यक्तित्व की चर्चा कर रहे हैं **हरदर्शन सहगल**



मेरी नजर में किसी लेखक का 'वे आफ राइटिंग' या 'स्टाइल आफ राइटिंग' ही उसको उसका अभीष्ट प्रदान कराता है। गोकि यह एक स्वतःसिद्ध स्वाभाविक वृत्ति है कि कोई लेखक किस 'तौर-तरीके' से लिखता है, तो भी इस 'स्टाइल' का महत्त्व अपनी जगह कायम है। इसी के द्वारा कोई लेखक अपनी प्रबुद्ध लेखक बिरादरी में छा जाना चाहता है। कोई विद्वानों, आलोचकों की नजर का तारा बन जाना चाहता है, तो किसी विशेष लेखक का ध्यान अपने विशाल साधारण पाठक वर्ग की ओर ही रहता है; मानो वह उन्हीं में से एक, उन्हीं की खातिर लिखता है। वह बड़ी सादगी के साथ, समाज की विषमताओं, कष्टों, उतार-चढ़ावों को अभिव्यक्ति देकर ज्यादा से ज्यादा लोगों को अपना साथी/भागीदार बनाकर उन्हें अपनी यात्रा में साथ चलने को आमंत्रित करता है।

मुझे लगता है कि अनेकानेक लोगों के प्रिय लेखक यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' का संपूर्ण लेखन उसी बड़े असहाय शोषित वर्ग के लिए है। उन्होंने प्रेमचंद की ही भांति जनभाषा में अपनी बात, अपनी कहानियों में कही है ताकि उन्हें पढ़ने-समझने में 'फालतू वाली कला' आड़े नहीं आए।

'चंद्र' जी के लेखन की सबसे बड़ी सिफत यही है कि एक बार उनकी कहानी पढ़ना शुरू करें तो पाठक उसे पूरा पढ़े बिना नहीं रह सकते। कारण स्पष्ट है कि उनकी कहानियों में प्रवाह है और जिज्ञासा जगाने का अद्‌भुत जादू भी कि वह पाठक को अपने साथ बहाता चला जाता है। अगर पाठक को विवशतावश कहानी बीच में छोड़नी भी पड़ जाए, तो कहानी ही जैसे उसे पुकारती रहती है। वह दूसरी, तीसरी बैठक में उसे पढ़कर ही दम लेता है। स्पष्ट है कि सभी कहानियों के साथ ऐसा नहीं हो पाता।

तब प्रश्न उठता है कि चंद्र जी की कहानी कैसी लगी! इस प्रकार इस पर विस्तार से चर्चा हो सकती है(कथ्य बुनने में 'चंद्र जी' का कोई सानी नहीं) लेकिन जो कहानियां अटक-अटककर खूब जोर लगाकर पूरी की जाती हैं और छूट जाती हैं, उन पर 'दूसरी प्रकार की चर्चा' ही संभव होगी। उनकी चर्चा कराई ही जा सकती है। इतने लंबे अंतराल के बाद आज भी प्रेमचंद, यशपाल सरीखे लेखक आम पाठकों के हृदय में क्यों जगह बनाए बैठे हैं! —चर्चा इस दिशा में भी होती रहती है।

हरदर्शन सहगल जाने-माने कथाकार हैं।

चंद्र जी ने अनेक यात्राएं कीं। अनेक स्थानों पर पड़ाव डाला। भारत के प्रायः हर वर्ग—साधारण से साधारण पेशे वालों से लेकर फिल्मी, राजनीतिक हस्तियों तक—उनका गहरा संपर्क रहा। इसलिए भी चंद्र जी के पास सदा व्यापक कथा चरित्र रहे। स्वाभाविक है कि उनकी कहानियों के पात्र अपने ही दमखम के साथ हमारे सम्मुख आ उपस्थित होते हैं। आकर हमसे कहते हैं— 'देखो, मैं तुम्हारे सामने मौजूद हूं। मेरे लिए बस थोड़ी-सी फुर्सत निकालो। मेरे साथ बतियाओ। मैं तुम्हें अपने सुख-दुख का भागीदार बनाना चाहता हूं। भाई, तुम मेरी बात सुनना तो शुरू करो। मुझे यकीन है कि मेरी बात को बिना पूरा सुने, तुम बीच में उठोगे नहीं। बाद में बेशक जरूर सोचते रहना कि मैंने बात खरी कही थी कि नहीं। हम रेगिस्तान के भूखे-प्यासे लोग अकाल के मारे हुए हैं। हम सामंतों, साहूकारों, महाजनों के चंगुल में फंसे हुए हैं। गुंडों, लठैतों ने हमें कहीं का नहीं रखा। ये लोग हमारी बेटियों, लुगाइयों की इज्जत के साथ खिलवाड़ करते हैं। पर हम बेबस हैं। हमारी कोई नहीं सुनता। तुम हमारे साथ आओ। हमें थोड़ा ही सही, न्याय दिलवाओ। और कुछ नहीं तो ढाढस ही बंधाओ। जाकर अपने साथियों और तमाम मिलने वालों से भी कहो—हमारे साथ बहुत ही गलत हुआ है। ऐसा नहीं होना चाहिए था।'

चंद्र जी के पास देश के कोने-कोने से हर तबके के पाठकों के पत्र आया करते थे। उनकी एक कहानी पर कई युवकों ने चंद्र जी से पूछा था— 'क्या वास्तव में ऐसी कोई शोषित परित्यक्ता लड़की है? है, तो हम उससे शादी करने को तैयार हैं।' ऐसे अनेक प्रसंग चंद्र जी के साथ जुड़े हुए हैं। उन्होंने लिखा भी तो कितना अधिक है कि वह सारा आम पाठकों और साहित्य जगत के बीच हमेशा के लिए छा गया। उन्हें कभी भी पाठकों, प्रकाशकों, संपादकों की कमी नहीं रही। एक-एक पुस्तक के सात-सात संस्करण तक बिके। उनका दूसरी भाषाओं में अनुवाद हुआ। कोई सोचकर बताए कि ऐसा कौन-सा विषय अछूता रह गया जिस पर चंद्र जी ने कहानियां न लिखी हों। उनका कथा-संसार दूर-दूर तक फैला है—दूर-दराज के ठेठ अंचलों तक। एक खोजी पत्रकार की भांति उन्होंने अपनी कहानियों में ढाणियों— बहुत ही कम आबादी की बस्तियों— में रहने, गुजर-बसर करने वालों की खोज-खबर ली है, जो किसी भी तरह संघर्ष करते हुए अपने अस्तित्व को स्वाभिमानपूर्वक बचा लेने की

चिंता में निमग्न हैं। फिर भी अवसर मिलते ही जीवन की मस्ती उनमें लौट आती है। उनमें से कोई लोहार है, कोई टोटकेबाज झाड़-फूंक करने वाला, कोई सपेरा, जादूगर, कोई टीपने वाला या साधुओं का चोला धारण किए हुए। इन हर श्रेणी के लोगों के, विचित्रता लिए हुए रीति-रिवाजों का लेखा-जोखा इतनी बारीकी से चंद्र जी ने प्रस्तुत किया है कि पढ़ने वाला जैसे उनके बीच जा पहुंचता है।

औरत के शोषण, उसके त्याग की भी अनेक कथाएं चंद्र जी ने हमें दीं, जिन्हें पढ़कर उन प्रताड़ित स्त्रियों के प्रति हमारी संवेदनाएं, सहानुभूति जाग्रत हो उठती हैं लेकिन इतना कर चुकने के बाद भी चंद्र जी अपने को दायित्वमुक्त नहीं कर पाते। वह नारी में ऐसे संघर्ष और विद्रोह की ज्वाला फूंक देते हैं, जिसके ताप से हम सबको तृप्ति मिलती है।

एक कहानी का नाम शायद 'तीसरा बिस्तर' है, जिसमें सास नवदंपती के बीच अपनी खाट लगाकर सोती है। उसे वहम है कि बहू के साथ सोने से उसका बेटा कमजोर हो जाएगा। आखिरकार तंग आकर बहू सास की खाट को कहीं दूर पटक आती है। एक आदमी ऐबी है। साहूकार उसे ऋण के चंगुल में फांस लेता है। अपने आदमी को साहूकार से छुटकारा दिलवाने के लिए उसकी औरत साहूकार को अपनी देह सौंपती है। फिर ऐसे पुरुष को हमेशा के लिए छोड़कर कहीं और चली जाती है। एक औरत मरणोन्मुख कैंसर रोगी की तुष्टि के लिए त्याग करती है।

अकाल की मार झेलते मरु प्रदेश पर लिखी उनकी अनेक कहानियां हैं। इनका कुशल संपादन डा. आदर्श सक्सेना ने किया है— *चंद्र की यथार्थवादी कहानियां*। एक कहानी में अकाल पीड़ित परिवार को चूहे जैसे घृणित जीव का भोजन करते दिखाया गया है। ऐसी तमाम कहानियों में राजस्थानी शब्दों, मुहावरों का भरपूर बोलबाला है।

चंद्र जी का व्यापक विस्तृत कथा-संसार महानगरों, फिल्मी दुनिया और विभाजन की त्रासदी तक भी फैला है। विभाजन पर हाल ही में *दोआबा* पत्रिका में छपी कहानी 'मेरा अपना घर' पूरा जीवन-दर्शन है। राजनीति करने वाले स्वार्थी नेताओं के कुटिल चेहरे हैं, जो अपनी सत्ता कायम रखने के लिए आम लोगों को मरवाते रहते हैं, उन्हें बेवकूफ बनाते रहते हैं।

चंद्र जी की कहानियों के सारे पात्र हमारे देखे-भाले लगते हैं जो अत्यंत सजीव होकर हमारी आंखों के सामने और अधिक स्पष्ट रूप लिए आते-जाते रहते हैं। यही है चंद्र जी के 'स्टाइल आफ राइटिंग' का कमाल। जादू वह, जो सिर चढ़कर बोले। हां, इस जादू के कुछ शिथिल पक्ष भी हो सकते हैं किंतु वे सारे के सारे चंद्र जी की कहानियों के प्रबल कथ्य, रचना की प्रामाणिकता तथा जीवन के यथार्थ के सम्मुख खास गिनती में नहीं आते। चंद्र जी का 'वे आफ अप्रोच टू रीडर्स' बरकरार रहता है।

चंद्र जी ने बच्चों के लिए भी ढेरों लिखा— उनमें लोककथाएं भी हैं। प्रदेश विशेष की कथाएं भी। मौलिक कहानियां भी विशेष महत्त्व रखती हैं। इनमें यादवेंद्र जी का विद्रोही स्वर मुखर होता रहता है, ताकि बच्चे सही दिशा में सोचने की आदत डालें। 'टिड्डा पुराण' भूले नहीं भूलती।

चंद्र जी को हम सबके बीच से गए एक बरस हो गया। उनकी कृतियां उनकी यादें हैं। हम लोग जो बराबर उनके साथ उठते-बैठते थे, जब तक हम हैं, उनकी यादें हैं। यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के जीवन के विविध आयाम हैं। दूसरों की मदद करने वाले। सब पर तरस खाने वाले। कहते थे कि जो प्रकाशक मर गया, उसके बच्चों से बकाया नहीं मांगता। यारों के यार। दिल्ली में, किसी से, पता नहीं, किस विषय पर बात हो रही थी, सहसा चंद्र जी कह उठे— "इसे सहगल साहब पसंद नहीं करेंगे।"

"तो क्या तुम सहगल साहब से डरते हो?"

"हां, डरना पड़ता है। मैं गलत हो सकता हूं, पर वह तो कुछ गलत, कह-कर नहीं सकता।"

एक प्रकाशक बोला— "हम तो हरदर्शन सहगल को नहीं जानते।"

चंद्र जी ने झट जवाब दिया— "अगर तुमने ताजमहल नहीं देखा तो इसका मतलब, ताजमहल है ही नहीं!"

स्वाभिमानी इतने कि जिसने भी उन्हें चोट पहुंचाई, उसके विरुद्ध लिख मारा। इसे उनके खासमखास अच्छी तरह से जानते हैं। उनके संघर्षमय, सादे-सरल, जीवन व्यक्तित्व तथा पूरे लेखन पर बात करना शुरू करें तो असीमित शब्दों का भंडार लग जाएगा। कुछ बातें उनके विनोदी स्वभाव की कर लें।

धर्मयुग कार्यालय बंबई पहुंचे। धर्मवीर भारती चिढ़े हुए थे। अपने स्टाफ वालों से बोले— "इसे कोई चाय नहीं पिलाएगा। इसने मेरे खिलाफ लिखा है।"

चंद्र जी बोले— "कोई बात नहीं, हम कॉफी ही पी लेंगे।"

भारती जी ने कॉफी मंगवा दी।...

"चंद्र जी, आप लिखते कब हैं?" किसी ने पूछा।

"जब आप में से कोई गपशप करने वाला नहीं होता।" (यानी दोस्तों के साथ बैठकबाजी को प्राथमिकता) जिस प्वाइंट से लिखना छोड़ा था, दोस्तों के चले जाने पर उसी प्वाइंट से रचना को आगे बढ़ा ले जाते। दिन-भर लिखने में लगे रहते। शाम को साइकिल को कोटगेट पर रख देते। फिर पैदल जाडोदिया बुक सेंटर, चप्पल वाले, घड़ीसाज वगैरह-वगैरह के पास बैठकर ठहाके लगाते, चाय पीते।...

"चंद्र जी, आपने सामंतों, राजाओं की खासी भर्त्सना की है। अब वे लोग आप पर मुकदमा चलाएंगे।"

"मैंने उनका नोमोल्लेख नहीं किया है। पहले तो वे लोग स्वीकार करें कि हमने ही ये कुकर्म किए हैं। तब तो बात आगे बढ़े।"...

एक प्रकाशक से बोले— "मेरा कापीराइट मुझे लौटा दो।"

"यह कैसे हो सकता है?"

"बहुत आसान तरीका बताता हूं।"

"बोलिए।"

"आप बस एक पुर्जे पर इतना लिखकर दे दें कि आज से इस कृति का कापीराइट यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के पास रहेगा।"

प्रकाशक हंसा और लिख दिया—"लो!"...

एक प्रकाशक से बोले— "सरकारी कर्मचारी तो बेटियों की शादियों पर सरकार से सहायता (लोन) लेते हैं। लेखक किससे पैसा लेगा?"

प्रकाशक ने तुरंत कहा—"प्रकाशक से।"

चंद्र जी ने भी उसी तत्परता से कहा— "मेरी बेटी की शादी है।"

प्रकाशक ने चैक काट दिया।...

एक चुटकुला चंद्र जी अपने ऊपर खुद सुनाया करते थे। किसी ने किसी लेखक से पूछा—"तुम्हें लिखने की प्रेरणा कहां से मिली?"

लेखक ने जवाब दिया— "चंद्र जी से।"

"क्या चंद्र जी इतने महान लेखक हैं?"

"हमने सोचा, जब चंद्र लिख सकता है तो हम क्यों नहीं लिख सकते!"

किसी मिलने वाले ने चंद्र जी से कहा— "आपका मकान कई चौकों,

पृष्ठ 15 पर जारी

संस्मरण

फिर इन्हीं हथियारों से

अमरकांत में रचनात्मक जिद भरपूर है। जैसे गांधी अहिंसा और सत्य से कभी नहीं हटे, संघर्ष में अमरकांत के हथियार भी सादगी, विनम्रता और अपने काम के प्रति गहरी निष्ठा में देखे जा सकते हैं। बता रहे हैं **मधुरेश**

पहली बार मेरा इलाहाबाद जाना सन 1977 में हुआ। यशपाल पर लोकभारती प्रकाशन के लिए एक आलोचनात्मक चयन तैयार करना था और उसी प्रसंग में लोकभारती के दिनेश चंद्र सहित मुझे वहां के कुछ लेखकों से भी मिलना था। मेरी योजना थी कि प्रस्तावित चयन यशपाल के मूल्यांकन का एक क्रमिक विकास भी प्रस्तुत करे। इस दृष्टि से जो पूर्व प्रकाशित सामग्री मैं लेना चाहता था, उसके लेखकों को भी इस आशय का पत्र मैंने लिखा था कि वे अपने लिखे पर पुनर्विचार के लिए स्वतंत्र हैं—चाहने पर वे उसमें कुछ भी जोड़-घटा सकते हैं। इसी प्रसंग में कुछ नए लेखों के लिए इलाहाबाद के कुछ लेखकों से भी मिलने की योजना थी। कुल मिलाकर दो-तीन दिन का कार्यक्रम था।

मैं लखनऊ रुकता हुआ इलाहाबाद पहुंचा था। प्रकाशवती जी ने दिनेश बाबू के लिए एक पत्र भी मुझे दिया था। पुस्तक के संपादन के लिए लोकभारती का मूल प्रस्ताव वस्तुतः नामवर जी के लिए था। नामवर जी ने ही मेरा नाम सुझाकर, एक तरह से, लोकभारती से यह प्रस्ताव भिजवाया था। इससे पहले इस योजना के सिलसिले में नामवर जी से मिलकर मैं रूपरेखा उन्हें दिखा चुका था और कुल मिलाकर वे उससे सहमत थे।

लखनऊ से सुबह की गाड़ी से चलकर मैं दोपहर को इलाहाबाद पहुंचा था। योजना सीधे सतीश जमाली के यहां जाने की थी और वैसी सूचना पत्र लिखकर मैं उन्हें दे चुका था। आत्मीय लंबे पत्राचार के बावजूद मिलना कभी उनसे भी नहीं हुआ था। अप्रैल एक तिहाई बीत चुकी थी। वे तीखी धूप और बढ़ती गर्मी वाले दिन थे। करीब दो बजे मैं उनके यहां पहुंचा। दरवाजे पर रिक्शा रुकते ही, दस-बारह साल के बच्चे के साथ जो महिला दरवाजे के बाहर मुझे मिली, वह जमाली की पत्नी ही थीं। मेरे पहुंचने की जानकारी उन्हें भी थी। पूछताछ और परिचय के बाद उन्होंने बताया कि सतीश जमाली अस्पताल में हैं। आज जांच होने के बाद कल उनका पाइल्स का आपरेशन होना है। तारीख मेरे पत्र के बहुत पहले से तय थी। वह अस्पताल जाने को ही निकली थीं। अटैची और उसमें से निकालकर बदायूं के पेड़े का डिब्बा मैंने बच्चे को दिया और फिर उसी रिक्शे से हम लोग अस्पताल चले गए थे। वहां जमाली के पास ही ममता कालिया और विद्याधर शुक्ल मिले। मेरे इलाहाबाद जाने की सूचना हृदयेश ने पत्र से अपने भतीजे राजेंद्र मेहरोत्रा को दे दी थी जो वहीं किसी बैंक में थे। वह शाहजहांपुर से निकली पत्रिका *प्रतिमान* के साथ ही प्रतिमान प्रकाशन से भी जुड़े थे। उसी शाम बैंक से लौटकर पत्र मिलने पर, मुझे देखने पहले वह जमाली के घर गए और फिर यहां अस्पताल पहुंचे थे। इसी बीच जमाली को देखने कुछ और लोग भी पहुंचे थे—शायद शेखर जोशी भी। औपचारिक परिचय के बाद, सबको अपनी योजना बताकर मैंने बाद में उनसे मिलने की बात की। फिर राजेंद्र के साथ ही, जमाली के यहां से अटैची उठाते हुए हम लोग उनके कमरे पर आ गए थे।

काम अगले दिन से शुरू होना था। मैं इलाहाबाद के लिए एकदम अजनबी था। जिन सतीश जमाली के भरोसे वहां गया था, वह अस्पताल में थे। राजेंद्र को बैंक भी जाना था। जिन लेखकों से मिलना था, वे पांच-सात थे और इलाहाबाद में काफी फासले पर रहते थे। तय हुआ कि सुबह नौ बजे राजेंद्र मुझे शैलेश मटियानी के पास छोड़कर बैंक चले जाएंगे। लोकभारती और वहीं पड़ोस में अश्क जी से मिलने का काम मैं उनके साथ करूं। फिर शाम को, बैंक से लौटकर, शैलेश मटियानी के यहां से ही मुझे लेकर मार्कंडेय के यहां चलेंगे।

शैलेश मटियानी बरेली और बदायूं में मेरे यहां आ चुके थे और *विकल्प* के कथा-साहित्य विशेषांक में अपनी टिप्पणी के साथ मुझे छाप चुके थे। जब राजेंद्र की साइकिल उनके दरवाजे पर पहुंची, रिक्शा खड़ा था और मटियानी जीने की सीढ़ियां उतर रहे थे। उन्हें वाराणसी जाना था। रिक्शा लौटाकर फिर मुझे लेकर वह ऊपर आए। राजेंद्र ने सारी योजना उन्हें बताकर, शाम को मिलने की बात कहकर, नीचे से ही विदा ले ली थी।

फिर वह सारा दिन मटियानी के साथ ही बीता था। खाना खिलाकर पहले वह मुझे लेकर लोकभारती गए थे और फिर अश्क जी के नीलाभ प्रकाशन पर। शाम को मार्कंडेय के यहां से हम लोग शेखर जोशी के यहां गए थे। शाम का खाना शेखर जोशी के यहां ही खाने की बात तय होने पर विचार बना कि जब तक खाना तैयार हो, हम लोग भैरव प्रसाद गुप्त के यहां हो आते हैं। भैरव जी के उपन्यासों पर एक लेख की बात *आलोचना* में नामवर जी से हुई थी, लेकिन उनके एक-दो उपन्यास मुझे मिल नहीं रहे थे। जब भैरव जी से उनका जिक्र हुआ तो बोले— "रात में मैं उन्हें ढूंढ लूंगा। कल अपने साथ उन्हें दफ्तर ले जाऊंगा। तुम वहीं से ले लेना!" इसके बाद उन्होंने यह भी जोड़ा— "वहीं अमरकांत से भी भेंट हो जाएगी!"

इस तरह अगले दिन का कार्यक्रम अनायास ही बन गया था। यशपाल वाली पुस्तक की योजना प्रायः सभी को पसंद आई थी और उसमें सहयोग का आश्वासन भी तब सबने दिया था।

अगले दिन सुबह बैंक जाते हुए राजेंद्र ही ने मुझे मित्र प्रकाशन पर छोड़ दिया था। सामने का खुला बड़ा-सा कमरा दिखाते हुए उन्होंने कहा— "यहीं भैरव जी और अमरकांत जी बैठते हैं...आप मिल लें!" यह भी तय हुआ कि यहां से निबटकर मैं कमरे पर चला जाऊंगा और शाम को उनके लौटने पर अगला कार्यक्रम बनेगा।

बड़ी-सी मेज के आगे किनारे वाली कुर्सी पर भैरव जी बैठे थे। मेरे पहुंचते और नमस्कार करते ही, मेज की ड्रॉअर में से निकालकर, अखबार में बंधी किताबों का पैकेट उन्होंने मुझे दिया— "इसमें *धरती* और *अंतिम अध्याय* की प्रतियां हैं!"...फिर सामने दूसरे छोर पर बैठे व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए बोले—"वे अमरकांत हैं...!"

मेरे इलाहाबाद में होने और कार्यालय पहुंचने की बात भैरव जी ने

मधुरेश जाने-माने लेखक हैं।

अमरकांत को बता रखी थी। इसलिए पहली बार मिलने पर भी अपरिचय जैसा कुछ नहीं लगा। उनकी मेज के आगे खड़े होकर मेरे नमस्कार करते ही खड़े होकर उन्होंने हाथ मिलाया– "कहिए, मधुरेश जी कैसे हैं?" पूछते हुए। फिर कुर्सी खींचकर उन्होंने बगल में ही बिठा लिया। मित्र प्रकाशन में वह तब महिलाओं की पत्रिका *मनोरमा* से जुड़े थे और शायद उसी की एक-दो फाइलें उनकी मेज पर रखी थीं। फिर वह देर तक मुझसे इलाहाबाद आने का कारण, बदायूं जैसी जगह में काम की स्थितियों और बहुत कम बाहर निकलने के मेरे स्वभाव के बारे में बात करते रहे। फिर बोले– "आते ही भैरव जी ने आपके यहां होने और आने की सूचना दी थी।"

कुछ दिन पहले ही किसी प्रसंग में अमरकांत का जिक्र चलने पर हृदयेश ने बताया था कि कई वर्ष पहले, अपनी सरकारी नौकरी से ऊबकर मित्र प्रकाशन की एक विज्ञप्ति देखकर उन्होंने भी अर्जी दी थी। साक्षात्कार के लिए वह इलाहाबाद आए भी थे। सबसे पहले वह अमरकांत से ही मिले थे। परिसर में अपने साथ घुमाते हुए अमरकांत ने वहां आने के लिए उनकी उत्सुकता का कारण जानना चाहा था। अपनी तरह से हृदयेश ने उन्हें बताया—न्यायालय के रूखे और एकरस काम से मुक्ति मिलेगी और साहित्य के क्षेत्र में ही नया कुछ करने को मिलेगा। इसे सुनकर, हृदयेश ने बताया था—अमरकांत की आंखें गीली हो गई थीं...वह भी पारिवारिक दायित्व के तहत ऐसे ही कुछ सपने लेकर कभी यहां आए थे। लेकिन यहां के काम ने उनकी सर्जनात्मकता का एक बड़ा हिस्सा सोख लिया। नौकरी करनी है क्योंकि उसके बिना मुक्ति नहीं है। नौकरी कोई भी हो, अंततः वह लेखन को बाधित करती ही है। फिर बहुत आत्मीयता से उन्होंने हृदयेश को सुझाव दिया था कि जहां हैं, उन्हें वहीं रहना चाहिए। नई जगह की परेशानियां उनके लेखन को और बाधित करेंगी। ऊब और एकरसता यहां भी कम नहीं है। वहां परिचितों और परिवार के बीच स्थितियों को उन्होंने जैसे साध लिया है, यहां शायद वह मुमकिन न हो। फिर सरकारी और प्राइवेट नौकरी के अंतर की ओर भी उन्होंने इशारा किया था। इस आत्मीयता का गहरा असर हृदयेश पर हुआ था। मित्र प्रकाशन में जाने का इरादा उन्होंने छोड़ दिया था। नौकरी के बीच उस मरुस्थल में धीरे-धीरे छीजती रचनात्मकता की हरियाली से गीली हुई उनकी आंखों को हृदयेश कभी नहीं भूल पाए।...

मुझसे उस प्रसंग को सुनकर आज फिर मुझे उनकी आंखें कुछ पसीजती-सी लगीं। पैंट की जेब से रूमाल निकालकर मुंह पोंछने के बहाने उन्होंने आंखें पोंछी थीं। सामने की मेज और बगल में खड़ी खुली अलमारी में फाइलों के चट्टे की ओर संकेत करते हुए वह बोले—"आप देख ही रहे हैं...सुबह दस से पांच तक इन्हीं के बीच बैठ और खपकर कोई फिर और किस लायक रह जाता है!"

फिर देर तक हम लोग घर-परिवार और दिन-ब-दिन बढ़ती रचनात्मक काम की दुश्वारियों की चर्चा करते रहे थे।

इसी बीच, एक-दो फाइलें कर्मचारी को देकर उन्होंने कुछ हिदायतें दीं। फिर मुझे लेकर चाय पीने को वह बाहर निकल आए थे। उठकर साथ चलने पर मेरा ध्यान एक-दो दिन के पहने उनके कपड़ों और चप्पलों की ओर गया। कार्यालय-परिसर के बाद, काफी बड़ा-सा मैदान पार करके हम जिस दुकान पर पहुंचे, वह शायद कार्यालय के कर्मचारियों और आस-पास के दफ्तरों के लोगों के लिए ही थी। टीन के छाजन के नीचे बनी भट्टी के पास तीन-चार बेंचें पड़ी थीं। चाय हमने गर्म बनते समोसे के साथ ली। एक साहित्यिक शहर के तौर पर वह इलाहाबाद के 'पतन' पर अंदर कहीं आहत और क्षुब्ध थे। 'परिमल' और प्रगतिवादी लेखक संघ की उत्तेजक और प्रेरक बहसों-विवादों वाला दौर बीत चुका था। बड़े और स्थापित लेखक अब इतिहास का हिस्सा बन चुके थे। जो कुछ थे, वे अपने में सिमट गए थे। लेखकों के छोटे-छोटे गुट थे, जहां आपसी सद्भाव और अपनेपन के सहारे ही जैसे-तैसे सब चल रहा था। बदायूं में रहकर मेरे काम की दुश्वारियों की बात भी उन्होंने पूछी और फिर एक आह-सी भरते हुए बोले– "शायद यही होता है...लेखक को सब कहीं अपना सलीब स्वयं ढोना होता है...!"

अगले दिन शायद रविवार था। कैंटीन से लौटते हुए उन्होंने मेरा कार्यक्रम पूछा। फिर बोले– "सुबह नौ-दस बजे के बीच और कोई खास काम न हो तो रानीमंडी पहुंचें, रवींद्र कालिया के यहां। वहीं बैठकर गप-शप होगी। वे लोग भी रहेंगे!"...उनका आशय रवींद्र और ममता कालिया से था। ये लोग अमरकांत पर *वर्ष-1* नाम से किसी संकलन की योजना के सिलसिले में मुझे भी लिख चुके थे। अमरकांत की कहानियों पर लिखने का आश्वासन मैंने उन्हें दिया था। अपनी सहमति जताते हुए मैंने पहुंचने की हामी भर ली।

मेरे पहुंचने से पहले ही अमरकांत वहां पहुंच चुके थे। वे लोग मेरी प्रतीक्षा में ही थे। ममता जी से दो दिन पहले अस्पताल में मिलना हो चुका था। रवींद्र कालिया से अलबत्ता पहली बार मिला। लेकिन लगा नहीं कि यह पहली बार का मिलना है। वह बड़ी-सी पुरानी इमारत थी– बाजार के भीड़-भड़क्के के बीचों-बीच। नीचे प्रेस था, ऊपर आवास। एक लंबे कमरे में अमरकांत पुराने दौर की दरी वाली आरामकुर्सी पर अधलेटे-से बैठे थे। कालिया-दंपति अंदर से बाहर आ गए थे। राजेंद्र मुझे छोड़ दोपहर बाद आने को कहकर चले गए थे।

इस जानकारी पर उन्हें हैरत थी कि मैं पहली बार इलाहाबाद आया हूं। फिर *वर्ष-1* की योजना के बारे में वे विस्तार से बातें करते रहे। उसके लिए अमरकांत अपना लंबा आत्मकथ्य खास तौर से लिख रहे थे। उनकी कुछ प्रसिद्ध कहानियों के साथ, एक नई कहानी देने की योजना भी थी। कालिया की योजना थी कि अमरकांत के पूर्व और बाद की पीढ़ी के लेखक एवं आलोचक उनके बारे में लिखें। उनकी अपनी पीढ़ी, नई कहानी के कुछ लेखक तो रहेंगे ही। कुल मिलाकर योजना बहुत अच्छी थी। नई कहानी आंदोलन का गर्द-गुबार तब बैठ चुका था। उस आंधी के बाद की बारिश ने चीजों के ऊपर की धूल धो-पोंछकर परिदृश्य काफी साफ कर दिया था। उस आंदोलन के दौर में शायद सबसे उपेक्षित लेखक अमरकांत ही थे। राजेंद्र यादव ने *नए कहानीकार* नामक जिस पुस्तक शृंखला का संपादन किया था, उसमें तीन लेखक वे ही थे जो उस दौर में काफी चर्चित थे—मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर। इस सूची में दो लेखक सुविधानुसार और जोड़ दिए थे– रेणु और मन्नू मंडारी। कुल मिलाकर इन पांच संकलनों के बाद ही वह शृंखला समाप्त हो गई। नामवर सिंह *परिंदे* को नई कहानी का पहला संग्रह घोषित कर चुके थे। उनके हाशिए पर अमरकांत कहीं नहीं थे।

अमरकांत पर केंद्रित *वर्ष-1* में कदाचित पहली बार सुरेंद्र चौधरी, विश्वनाथ त्रिपाठी, विजय मोहन सिंह, मधुरेश आदि को एक साथ प्रस्तुत करने की योजना थी। अमरकांत के समकालीनों में, दो विरोधी छोरों से राजेंद्र यादव और मार्कंडेय को चुना गया था। संस्मरणों के लिए प्रस्तावित नाम शेखर जोशी, गिरिराज किशोर और ममता कालिया के थे। अमरकांत के महत्त्व और परिप्रेक्ष्य पर लिखने के लिए यशपाल, अश्क और श्रीपतराय के नाम थे। देर तक योजना के सारे पक्षों पर बातचीत होती रही। मुझे लगा कि स्वयं अमरकांत भी इस योजना से खासे संतुष्ट और उत्साहित हैं।

अमरकांत का जन्म 1 जुलाई 1925 को उसी बलिया के एक गांव भगमलपुर में हुआ था, जहां सन 42 के भारत-छोड़ो आंदोलन में कुछ दिनों के लिए बाकायदा

स्वदेशी सरकार बनी थी। उनका मानसिक विकास स्वामी शिवानंद की *ब्रह्मचर्य ही जीवन है* और मन्मथनाथ गुप्त की *भारत में सशस्त्र क्रांति की चेष्टा* जैसी किताबें पढ़कर हुआ था। अपने विकास से प्रसंग में वह यशपाल द्वारा संपादित *विप्लव* और *चांद* के फांसी अंक का उल्लेख विशेष रूप से करते हैं। हाईस्कूल की परीक्षा दे चुकने के बाद, क्रांतिकारियों की तलाश में पुलिस के छापे में उनके तीन साथी गिरफ्तार हुए थे। वह स्वयं इसलिए बच गए थे क्योंकि उनके मामा सिविक गार्ड्स में जिला कमांडर थे। फिर एक साथी के माध्यम से वह आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के भाई नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के संपर्क में आए, जो समाजवादी विचारधारा के क्रांतिकारी रूप के लिए विख्यात थे। वस्तुतः यहीं मिली राजनीतिक शिक्षा के परिणामस्वरूप वह राहुल सांकृत्यायन की किताबों के संपर्क में आए। यह उनके लिए भी, और बहुतों की तरह सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट विचारों के बीच गहरे संघर्ष और स्पर्धा का दौर था। बिहार में क्रांगेस के किसी अधिवेशन में भाग लेकर लौटते महात्मा गांधी के इधर से निकलने की खबर समूचे क्षेत्र में आंधी की तरह फैली थी। स्टेशन पर युवकों की अपार भीड़ में अमरकांत ने भी तब पहली और आखिरी बार गांधी को देखा था।



अमरकांत

स्वाधीनता संग्राम के इसी दौर में अमरकांत ने अपनी राजनीतिक दीक्षा ली थी। आजादी उनके लिए 'भारत माता की मुक्ति' जैसी कोई रहस्यमयी और अरूप चीज न थी। वह करोड़ों किसान, मजदूरों, शोषितों, उत्पीड़ितों की आर्थिक स्वतंत्रता, जाति-धर्म की जड़ता से मुक्त समाज की कल्पना की दिशा में उठाया गया कदम थी। हाईस्कूल के बाद उन्होंने विधिवत कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की और खद्दर पहनने की शपथ ली। राजनीति में अमरकांत एकांगिता और अतिरेक से बचकर उसकी सामाजिक और समावेशी प्रकृति पर जोर देते हैं। वह इस बहस से बचते हैं कि आजादी क्रांतिकारी आंदोलन का परिणाम थी या गांधी के अहिंसक आंदोलन का। गांधी की अनेक बातों को अस्वीकृत करते हुए भी वह जनता पर उनकी व्यापक पकड़ और जादुई प्रभाव के कायल थे। पूंजीपति जनता के ट्रस्टी हैं– जैसी गांधीजी की अनेक उक्तियों को अस्वीकार करके भी गांधीजी की राजनीतिक शैली से वह कहीं गहरे और दूर तक प्रभावित थे। ये गांधी ही थे जिन्होंने देश में भयमुक्त राजनीति और सरल मुहावरों में स्वाधीनता की चेतना को गांव-गांव पहुंचाने का दुःसाध्य कार्य किया था। गांधी, नेहरू और जयप्रकाश नारायण अमरकांत के प्रिय और आदर्शचरित नायक थे। सन 42 में इलाहाबाद में ही, एक जुलूस में कुछ दूर तक नेहरू के साथ चलने का गर्व अमरकांत गहरी सिहरन के साथ याद करते हैं। नेहरू तब लाल नेकर और सफेद कमीज पहने जुलूस की अगुआई कर रहे थे। पास आने पर नेहरू के बराबर खड़े होकर अमरकांत ने अपनी लंबाई नापकर देखी थी। नेहरू को अपने से अधिक लंबा न पाकर उन्हें अपने अंदर एक गहरा आत्मविश्वास बहुत अनुभव हुआ था।

यही वह दौर था, सन 42 का भारत छोड़ो आंदोलन का जब गांधीजी के आह्वान पर अमरकांत ने इंटर की अपनी पढ़ाई बीच में छोड़कर स्वाधीनता संग्राम में छलांग लगाई थी। फिर इंटर की परीक्षा उन्होंने सन 46 में पास की, जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि अब स्वाधीनता सन्निकट है। इस विश्वास के बाद ही उन्होंने विवाह की सहमति भी जताई थी। फिर इलाहाबाद आकर बी.ए., बेरोजगारी और पारिवारिक संघर्षों का एक लंबा दौर उन्होंने जिया और देखा। स्वाधीनता के बाद नेहरू-युग में ही घटित एक व्यापक मोहभंग और हताशा का दौर, जो नई कहानी का केंद्रीय सूत्र था, अपनी पीढ़ी के दूसरे लेखकों से अधिक अमरकांत ने देखा और भोगा था। हताशा और मोहभंग की इस हाहाकारी बाढ़ ने युवाओं के भविष्य और घर-परिवार की आत्मीय सुरक्षा को भी बहा दिया था। सपनों की इन किरचों की गहरी चुभन के बिना 'दोपहर का भोजन' और 'डिप्टी कलक्टरी' जैसी कहानियां नहीं लिखी जा सकती थीं।

एक लेखक के रूप में अमरकांत से परिचय और उनकी पहचान की स्पष्ट याद 'डिप्टी कलक्टरी' से ही है। जब सन 56 का *कहानी* नववर्षांक आया, मैं इंटर कामर्स की परीक्षा देने की तैयारी में था। कोर्स की किताबों में मन एकदम नहीं लगता था। पिताजी सुबह चार बजे उठाकर पढ़ने बिठा देते। मेरे उठने के बाद जब वे देख लेते कि मैं लालटेन जलाकर पढ़ने बैठ गया हूं, वे फिर लेट जाते थे। जाड़े में भी हम लोग जूट के खूब मोटे पर्दों वाले बरामदे में ही सोते थे। उठकर मैं उसी विशेषांक की कहानियां पढ़ता रहता था। एक दिन बीच में अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' तब उसी विशेषांक में मैंने पढ़ी थी। रचनाओं के पहले पाठ से कभी-कभी स्मृतियां कुछ इस तरह जुड़ जाती हैं कि फिर बाद में भी कभी पढ़ने पर वे स्मृतियां भी साथ चलती हैं, जैसे वे भी पाठ का हिस्सा हैं। अमरकांत की कहानी में वह प्रसंग मैं कभी नहीं भूल पाया जिसमें शकलदीप बाबू सिगरेट का पैकेट लाकर पत्नी को देते हैं– बबुआ को दे देने के लिए। तब मैं भी लुक-छिपकर सिगरेट पीने लगा था। दो या चार सिगरेट इकट्ठी खरीदता था। पहली सिगरेट दुकान पर ही सुलगा लेता था और फिर साइकिल से गांधी स्टेच्यू पर आकर पार्क के बाहर पड़ी पत्थर की बेंच पर बैठकर वे सभी सिगरेट एक-एक करके पी जाता था। हफ्ते में प्रायः एक बार ही यह करता था। अमरकांत की कहानी में डिब्बी वाला वह प्रसंग फिर मैं कभी नहीं भूल सका। दसियों बार उस कहानी को बाद में पढ़ा और बरामदे में सुबह के झुटपुटे में पिताजी द्वारा पढ़ने को उठाने पर चोरी से पढ़ी गई उस कहानी की स्मृतियां हमेशा उसके साथ चलती रहीं। जैसी मेरी आदत तब भी थी, *कहानी* के सन 1955 और 56 के विशेषांकों के बाद मैंने पत्रिका के पिछले अंक भी मंगाए थे। उनमें से ही किसी अंक में 'दोपहर का भोजन' पढ़ी थी।

अमरकांत का उपन्यास *सूखा पत्ता* मैंने सन 61 में, बिसौली पहुंच जाने के बाद, निर्मल वर्मा के कहानी-संग्रह *परिंदे* के साथ पी.पी.एच. से मंगवाया था। उनके उपन्यास *कंटीली राह के फूल* की समीक्षा मैंने *ज्ञानोदय* में सन 1964 के किसी अंक में लिखी थी। तब तक यशपाल से पत्राचार शुरू हो चुका था। अमरकांत के उपन्यासों में उनके युवा नायकों की क्रांतिकारी गतिविधियां, क्रांति के प्रति उनका उत्कट लगाव और निम्न मध्यवर्गीय उत्तर भारतीय समाज में गली-मुहल्लों की जिंदगी में बढ़ते-पनपते प्रेम-प्रसंग खासतौर से आकृष्ट करते

थे। अमरकांत किशोर वय के राग-संबंधों और तरुणाई के सपनों को बहुत आकर्षक ढंग से अंकित करने वाले लेखक हैं। नेहरू-युग में तेजी से फैलते मोहभंग के रेगिस्तान और युवा आकांक्षाओं एवं सपनों पर चढ़ती उस रेत की पर्तों को अमरकांत गहरी मार्मिकता से अंकित करते हैं। उस दौर के उपन्यासों के उनके शीर्षक *सूखा पत्ता, कंटीली राह के फूल, काले-उजले दिन* आदि गहरी अर्थ-व्यंजना से पूर्ण हैं। वह युवाओं की हताशा, जीवन में फैलती निरुद्देश्यता, बेरोजगारी के बीहड़ों में भटकती जिंदगी के मर्म को छूते दिखाई देते हैं। अपनी कहानियों में यदि वह प्रेमचंद और यशपाल के निकट लगते हैं, तो उपन्यासों में शरत चंद्र उन्हें आकृष्ट करते हैं। उनकी कहानियों की जैसी चर्चा हुई, उपन्यासों का वैसा नोटिस नहीं लिया गया। जब-तब उन पर रोमानियत का आरोप भी लगाया गया। शायद इसी कारण वे रोमांटिसिज्म के पक्ष में तर्क भी तैयार करते हैं। रोमांटिसिज्म को वह समाज की जड़ता के विरुद्ध एक हथियार की तरह इस्तेमाल करने की बात करते हैं। उनका मानना है—'जड़, स्थिर और पिछड़े हुए समाज में रोमांटिसिज्म हरकतें पैदा करता है और फलस्वरूप एक प्रगतिशील कार्य करता है।'... यह वस्तुतः वही तर्क है जिसे गोर्की से लेकर कृश्न चंदर तक सब दोहराते रहे हैं। *क्रांति* और *प्रेम* जैसे अमरकांत के उपन्यासों के बीज-शब्द हैं। इन्हीं को आधार बनाकर वह युवा मन की आकांक्षाओं, सपनों और कंटकाकीर्ण मार्ग की बाधाओं से उपजी हताशा के लेखक हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त 'नई कहानी' में अमरकांत की खोज का श्रेय लेते हैं। नई कहानी के आंदोलन के दौर में, भीषण आत्म-प्रचार और आत्ममुग्धता के बीच, कहानी में उनकी भूमिका अलक्षित बनी रहना आश्चर्य की बात नहीं है। श्रीपतराय और भैरव प्रसाद गुप्त ने *कहानी* में उन्हें गर्व एवं सम्मानपूर्वक छापकर और रवींद्र कालिया ने *वर्ष-1* में उनके समुचित मूल्यांकन का आधार तैयार करके एक लेखक के रूप में अमरकांत का प्राप्य दिलाने की कोशिश की। ज्ञानरंजन ने अमरकांत द्वारा उन्हें ही भेंट किया गया संग्रह *मौत का नगर* मुझे भिजवाते हुए *पहल* में लिखवाया था। बाद में दो खंडों में प्रकाशित उनकी समग्र कहानियों और उनके उपन्यास *इन्हीं हथियारों से* पर रवींद्र कालिया ने *वागर्थ* में लिखवाया। *भारतीय लेखक* के एक अंक में, जिसका विशिष्ट खंड अमरकांत पर केंद्रित था, मैंने उनकी कहानी 'हत्यारे' का पुनर्पाठ लिखा था। उसके बाद उनका फोन आया। हम लोग देर तक बात करते रहे। उनका चेहरा मेरे सामने नहीं था। लेकिन कई जगह लिखकर उनकी चर्चा के लिए एक कृतज्ञ प्रसन्नता की खनक-भरी गूंज उनकी आवाज में साफ पढ़ी जा सकती थी।

मिलना-जुलना भले ही अधिक न होता हो, कुछ समान गुण-सूत्रों वाला एक ऐसा आपसी लगाव जरूर है जो पारस्परिक विश्वास पैदा करता है। जब उनके बेटे ने प्रकाशन का काम शुरू किया, उन्होंने मुझे पत्र लिखा और संभव होने पर कालेज के पुस्तकालय के लिए कुछ खरीद का अनुरोध किया। अपनी किताबों के सिलसिले में मुझे एक दिन बहुत जल्दी में इलाहाबाद जाना पड़ा। तब मैं लखनऊ में अपने बेटे अनुराग के पास था और उसी को साथ लेकर इलाहाबाद चला गया था। वह इतनी संक्षिप्त और कामकाजी यात्रा थी कि किसी से मिलना नहीं हुआ। थोड़ी देर को बस सत्य प्रकाश मिश्र के यहां जाना हुआ था जो सतीश जमाली के घर के सामने ही रहते थे। बाद में बदायूं लौटकर मैंने क्षमा-याचना का एक पत्र उन्हें लिखा। उनका उत्तर आया—'आपके इलाहाबाद आने की खबर मिली थी। मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि आप बिना मिले लौट गए हैं।' विश्वास न हो पाने का एक वाजिब कारण भी था। वह उन दिनों अस्वस्थ चल रहे थे और इलाहाबाद जाने पर मुझे उन्हें देखने जाना ही चाहिए था। लेकिन लड़के के पास छुट्टी न होने से हम सिर्फ जमाली से बात करके ही लौट आए थे।

फिर पत्रों की जगह फोन ने ले ली। सन 2003 में जब मैं वाराणसी गया, गोकुल चंद्र शुक्ल पुरस्कार के प्रसंग में, वाचस्पति ने फोन पर अमरकांत से बात करवाई। बिना किसी सूचना के मेरे वाराणसी पहुंचने पर उन्होंने हैरत जताई। फिर वाचस्पति को लेकर ही इलाहाबाद आने को कहा। लेकिन अगले ही दिन मित्रों ने यशपाल पर एक गोष्ठी की योजना बना रखी थी—उनका शताब्दी-वर्ष होने से। उसके अगले दिन मुझे लौटना था। वस्तुस्थिति जानकर, इतना पास आकर भी मिल न पाने पर वह मलाल जताते रहे। जब उन्होंने *बहाव* निकाली, उसका अंक मुझे भिजवाते हुए अगले अंक में लिखने को कहा। पत्रिका बहुत साधारण थी। अमरकांत की कोई छाप उस पर नहीं थी। पता नहीं, किस मजबूरी में उसका संपादन उन्होंने किया था। फिर भी मैंने उनके अनुरोध का मान रखते हुए जैनेंद्र की कहानियों पर लिखी जा रही किताब का एक अध्याय उन्हें भिजवाया। जैसा अनुमान था, पत्रिका उसके बाद ही बंद हो गई।

जब रवींद्र कालिया ने *वागर्थ* के लिए उनकी समग्र कहानियों पर लिखने को मुझे कहा, उनके संस्मरणों की तभी हाल में आई पुस्तक के लिए मैंने अमरकांत को लिखा। उसी पत्र में उनके एक-दो उपन्यासों का भी जिक्र किया, जो मेरे पास नहीं थे। मैंने यह इच्छा भी जताई कि देर-सबेर कभी उनके उपन्यासों पर लिखने का मन है। संस्मरण वाली किताब के साथ *सुन्नर पांडे की पतोहू* भी उन्होंने भिजवाया था और *आंगन और दीवार* के बारे में लिखा कि वह अब उपलब्ध नहीं है। हो सकता है, मेरे लिखने तक वह कहीं से दुबारा छप जाए नहीं तो उसकी फोटो प्रतिलिपि कराकर भिजवा दी जाएगी। यह सूचना भी उन्होंने दी थी कि वहां सम्मेलन पुस्तकालय में वह है।

जब *भारतीय लेखक* के एक अंक में उन पर विशिष्ट सामग्री देने की बात तय हुई और अंक में बहुत विलंब हो रहा था, उन्होंने मुझे फोन करके स्थिति जाननी चाही। जो जानकारी मुझे थी, मैंने उन्हें बताई। उन लेखकों के नाम भी बताए जिनके लखने की सूचना अनुराग से मुझे मिली थी। संकोचवश अपना उल्लेख मैंने नहीं किया। जानकारी उन्हें भी थी। वह बोले—"और आप भी तो लिख रहे हैं!"... तब हामी भरते हुए मैंने बताया कि उनकी कहानी 'हत्यारे' पर एक पुनर्पाठ लिखा है। यह सूचना भी उन्हें दी कि अंक तैयार है, किसी विज्ञापन की प्रतीक्षा में रुका पड़ा है, जल्दी ही आएगा।

जब उनका उपन्यास *इन्हीं हथियारों से* परिवर्तित शीर्षक 'आंधी'— से *साक्षात्कार* में धारावाहिक छप रहा था, उन्होंने मेरी प्रतिक्रिया जाननी चाही थी। मैंने उन्हें लिखा कि इस तरह धारावाहिक रूप में मैं किसी रचना को नहीं पढ़ पाता। पढ़ भी लूं तो लंबे अंतराल के बीच कोई राय बनाने में मुझे दिक्कत होती है। उपन्यास जब पुस्तक रूप में आएगा, तभी अपनी राय दूंगा। ऐसा ही हुआ भी। उसके पुस्तक रूप में आने पर खुद कालिया ने *वागर्थ* में उस पर लिखवाया। फिर उसका एक अंश—यशपाल और अमरकांत पर तुलनात्मक टिप्पणी वाला— उन्होंने *नया ज्ञानोदय* में भी छापा। अमरकांत से तो उस प्रसंग में कोई बात नहीं हुई। वाचस्पति ने फोन पर बताया कि उसे पढ़कर वह संतुष्ट और प्रसन्न थे।

यशपाल शताब्दी वर्ष में *भारतीय लेखक* के अतिथि संपादक के रूप में मैंने अमरकांत को भी एक संस्मरण के लिए लिखा। इस प्रसंग में उन्होंने जो पत्र लिखा वह यह है—

'प्रिय भाई मधुरेश जी,

आपका पत्र मिला। धन्यवाद। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको मेरा उपन्यास पसंद आया है। यशपाल जी पर लेखन मैं इसलिए करने में असमर्थ

हूं कि उनसे मेरा निजी संपर्क बहुत मामूली रहा है। यह मेरा दुर्भाग्य था... इसमें मेरे स्वभाव का ही दोष है। एक वर्ष तक लखनऊ में रहा, मगर उसके निकट नहीं जा सका। इसलिए कोशिश करने पर भी कोई संस्मरण नहीं बना पाया और मैं डा. कुंवर पाल सिंह को दिया वचन भी पूरा नहीं कर सका। उनकी रचनाओं पर जरूर लिखा जा सकता था मगर मेरे पास पुस्तकें नहीं थीं और अस्वस्थता की हालत में बहुत मेहनत संभव नहीं है। मेरी दृष्टि में वह महान कथाकार हैं और उन पर कुछ हल्का लिखना मुझे शोभा नहीं देता। निश्चय ही वह जीवन-भर क्रांतिकारी रहे और उन्होंने जेल से छूटने के बाद अपने जीवन का शेष समय अपनी रचनाओं द्वारा झूठी नैतिकताओं, अनेक तरह के पाखंडों, संस्कृति संबंधी विरोधाभासी व विरोधी मान्यताओं, सामाजिक विद्रूपताओं आदि का विरोध करके एक जनतांत्रिक समाज के निर्माण की दिशा में अनथक प्रयास किया। नारी मुक्ति के लिए जब बात की जाएगी तो उनकी रचनाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलेगा। 'ईश्वर', 'आत्मा' आदि के अस्तित्व का खंडन करके उन्होंने भाग्यवाद का विरोध किया कि करोड़ों लोगों की गरीबी व शोषण के लिए पूर्वजन्म के पापों की बात करना एक धोखा है और सामान्य लोगों को संगठित होकर इसका विरोध करके एक शोषणमुक्त समाज निर्मित करने की कोशिश करनी चाहिए। और उनका *झूठा सच* तो विभाजन के विरुद्ध एक सशक्त अभियान है— विभाजन, जो भारत का रोग बना हुआ है। उनकी कई रचनाओं पर फार्मूला और चौखटे बनाकर लिखने का आरोप है, लेकिन इसका भी सही मूल्यांकन होने की जरूरत है। आशा है, आप स्वस्थ, प्रसन्न हैं।

सस्नेह,
अमरकांत

उनका यह पत्र यशपाल के बहाने उन्हें भी खोलता है। इसमें बिखरे सूत्र अनेक व्यवस्थित आलेखों पर भारी पड़ते हैं। विशेषांक मिलने पर संतोष व्यक्त करते हुए उन्होंने फोन पर मुझे बधाई दी थी।

अमरकांत में वह रचनात्मक जिद भरपूर है, जो बलिया की एक खास पहचान है। लेकिन उसकी अकड़ और अक्खड़पन से वह मुक्त हैं। जैसे गांधी अहिंसा और सत्य से कभी नहीं हटे, संघर्ष में अमरकांत के हथियार भी सादगी, विनम्रता और अपने काम के प्रति गहरी निष्ठा में देखे जा सकते हैं। दूसरों को काट और छेंककर आगे बढ़ना उनका स्वभाव कभी नहीं रहा।

नई कहानी के दौर में हिंदी में पहली बार जब स्टारडम की शुरूआत हुई, अमरकांत बहुत लो-प्रोफाइल में अपना काम कर रहे थे। अपनी अदम्य इच्छाशक्ति से उबरकर ही वह आगरा में प्रगतिवादी लेखक संघ की गोष्ठियों में गज़ल-गायक से कहानीकार की भूमिका में आए थे। उपेक्षा के दंश के बावजूद इसकी भी अधिक चिंता उन्होंने नहीं की कि इलाहाबाद के ही कुछ अग्रज और वरिष्ठ लेखक उन्हें पहचाते नहीं थे।

अमरकांत एक बार फिर इसे सच साबित करते हैं कि ग्लैमर, लफ्फाजी और पाखंड जेनुइन रचनाशीलता को थोड़े-बहुत समय का धकिया तो सकते हैं, उसे समाप्त नहीं कर सकते। समय का पैसला अंततः अमरकांत के हक में रहा है। वह उन लेखकों की कतार में खड़े हैं जिसका महत्त्व समय के साथ बढ़ता है और हाशिया ही केंद्र बन जाता है। ❑

संपर्क : 372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003

संघर्षों से घिरा एक जिंदादिल लेखक

पृष्ठ 10 से आगे

टेढ़ी-मेढ़ी गलियों से होकर आता है (तब वह शहर के अंदरूनी इलाके, 'साले की होली' में रहा करते थे) याद नहीं रहता।"

"तुम मुझे पांच हजार रुपये उधार दे जाओ। फिर रास्ता अपने आप याद हो जाएगा।"...

मैंने एक बार कहा था—"चंद्र जी, यह चेखव वाली किताब मैं किसी दिन चुराकर ले जाऊंगा।"

चंद्र जी ने ठहाका लगाया—"तू और चुराकर ले जाएगा? ले, ले जा! पर किसी और को मत देना।"

वह किताब इस वक्त मेरे सामने पड़ी है। उन्होंने अपनी तथा औरों की भी कई किताबें मुझे दीं। प्रकाशक उन्हें अच्छी तादाद में पुस्तकें दिया करते थे।

"चंद्र जी, क्या आपने फलाने (तथाकथित बड़े लेखक) को पढ़ा है?"

"क्या उसने मुझे पढ़ा है? (मैं फालतू लोगों को नहीं पढ़ता।)"

चंद्र जी बताया करते थे कि बचपन से बस एक ही धुन सवार हो गई थी कि मुझे लेखक बनना है। इसी में जूझ गए। उपवासों तक की नौबत आती; मगर फौरन उबर आते। नाटक लिखे। पैसों के लिए निर्देशकों का मुंह देखते रहे। आखिर किसी प्रकार पैसे मिल गए।

पांच रुपये का पारिश्रमिक आया तो मानो बहार आ गई। सब कुछ भूलकर खीर, हलवा बनवा डाला। पत्नी शांति भट्टाचार्य ने भी पति का पग-पग पर खूब साथ निभाया।

चंद्र जी ने कहीं यह तक लिखा है कि मिलने वालों की तरफ इस आशा से देखते कि शायद चाय पिला दे। अब सब कुछ है। रायल्टी से बच्चों को पढ़ाया-लिखाया। ठाट-बाट से उनकी शादियां कीं। नए शहर में नया मकान बनवाया— सिर्फ और सिर्फ लेखन के दम पर। सभी जानते होंगे कि हिंदी में फ्रीलांसिंग करने वालों की संख्या को उंगलियों पर गिना जा सकता है।

साठ उपन्यासों, सत्रह कहानी संग्रहों, सात नाटकों, दो काव्य संग्रहों, चालीस बाल साहित्य की पुस्तकों, एक संस्मरण पुस्तक के लेखक यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के मिलने वालों का दायरा पूरे देश की महान हस्तियों के साथ रहा, जैसे —राहुल सांकृत्यान, जैनेंद्र कुमार, देवेंद्र सत्यार्थी, क्षेमचंद्र 'सुमन', कृष्ण चंदर, रांगेय राघव, 'उग्र', नागार्जुन और बाकी के सारे प्रांतीय, राष्ट्रीय लेखक। फिल्म लाइन वालों में मोहन सहगल, भरत व्यास, मुखराम शर्मा, ख्वाजा अहमद अब्बास आदि।

चंद्र जी ने दूसरों को प्रकाश में लाने की भरपूर मदद की। कहते थे कि कोई किसी की प्रतिभा को रोक नहीं सकता। वे मेरे नहीं तो और किसी तरीके से आगे आ ही जाएंगे। फिर मैं ही क्यों न उनकी सहायता करूं! राजेंद्र यादव की प्रथम कृति *चेखव के साथ एक काल्पनिक इंटरव्यू* को चंद्र जी ने ही कलकत्ता से छपवाया था। वे नयों को पांडुलिपि तैयार करने, भेजने और पूरे आत्मविश्वास, ईमानदारी के साथ कार्य करने की प्रेरणा दिया करते। हां, जो लोग मात्र टाइम पास के लिए उनका समय बर्बाद करते, उनसे उन्हें निहायत चिढ़ थी। वैसे, असाइनमेंट पर काम कर रहे होते तो भी ज्यादा शो न करते।

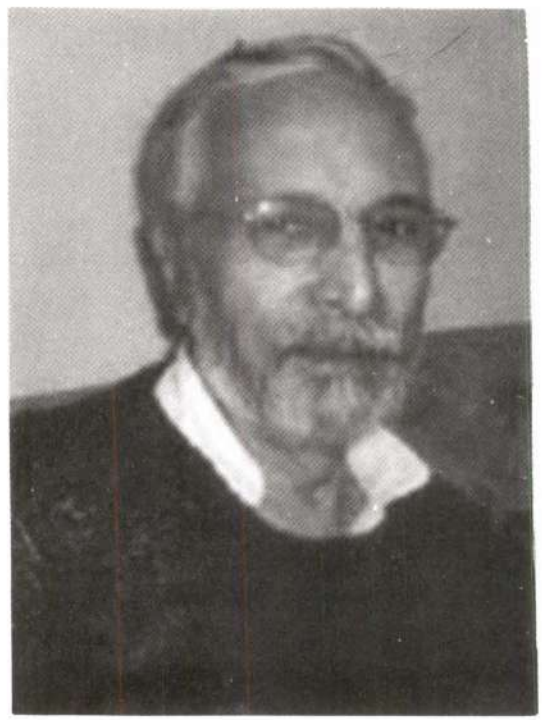
बिल्कुल अंतिम कुछ महीनों को छोड़, वह सदा सक्रिय ही रहे। 'जीवन के बीत जाने' पर विचार करें तो लगता है कि जीवन का बीत जाना बहुत छोटी बात है। जीवन में अपने निशान छोड़ जाना बहुत बड़ी बात है। ❑

संपर्क : 5-ई-9, 'संवाद, डुप्लैक्स कालोनी, बीकानेर-334003 (राजस्थान)

'साहित्य से रिश्ता बनाने के लिए समय चाहिए!'

कथाकार, उपन्यासकार ***पंकज बिष्ट*** *से* ***सुंदर चंद ठाकुर*** *की बातचीत*

तीन-तीन चर्चित उपन्यासों, कई कहानी संग्रहों—जिनमें बच्चों के लिए लिखी रचनाएं भी शामिल हैं—के लेखक पंकज बिष्ट साहित्य और गैर साहित्यिक मसलों पर अपनी बेबाक टिप्पणियों के लिए जाने जाते हैं। इधर उनकी पत्रिका *समयांतर* ने भी बहुत लोकप्रियता हासिल कर ली है। यह पत्रिका अपने विशेषांकों में ज्वलंत मुद्दों पर लंबी चर्चा करवाने और महत्त्वपूर्ण किताबों की समीक्षाएं देने के अलावा दरबारी लाल के 'दिल्ली मेल' कालम के जरिए अपने खास अंदाज में साहित्य-संस्कृति जगत के पर्दे के पीछे चल रही गतिविधियों का ब्यौरा देती रही है। पंकज बिष्ट से साहित्य, समाज और अन्य कई मुद्दों पर लंबी बातचीत हुई। प्रस्तुत हैं बातचीत के मुख्य अंश :



प्रश्न : आपके दो उपन्यासों को पढ़कर आपकी दो छवियां बनती हैं—*उस चिड़िया का नाम* में आप विद्रोही युवक दिखाई देते हैं, जो पहाड़ की रूढ़ियों के खिलाफ बात करता है और *लेकिन दरवाजा* में एक ऐसा युवक दिखता है, जो दिल्ली के साहित्य संसार की पोल खोलने पर आमादा है। उपन्यास में झलक रहा पंकज बिष्ट क्या दो दशक बाद भी वैसा ही है या बदल गया है?

उत्तर : एक व्यक्ति के रूप में लगता नहीं कि मूलतः मुझमें कोई बदलाव आया है। चीजों को देखने, समझने का नजरिया जरूर बदला है या कहिए कि विकसित हुआ है। किसी व्यक्ति का चरित्र उसके निजी अनुभवों से ही नहीं बनता। यह इस पर भी निर्भर करता है कि उसमें परंपराओं की कितनी समझ बनी है और उसने उन्हें कितना आत्मसात किया है। निजी संसार के अनुभवों के अलावा, मेरे अध्ययन, प्रगतिशील-वैज्ञानिक समझ ने भी मुझे बनाया है। ये दोनों उपन्यास मैंने अपनी इसी आधारभूत समझ से लिखे थे। यह समझ अब भी कायम है। बदलाव के नाम पर यह जरूर हुआ है कि अब यह समझ कुछ और परिपक्व हो गई है।

लेकिन दरवाजा में आपने सत्तर-अस्सी के दशक की दिल्ली की साहित्यिक दुनिया का जो खाका खींचा है, अब वह कैसा हो गया है?

कई मामलों में वह पहले से बहुत खराब हुआ है। गलाकाट प्रतिद्वंद्विता बढ़ी है। साहित्य के प्रति सम्मान कम हुआ है। समाज में साहित्य के प्रति झुकाव भी अब पहले जैसा नहीं रहा। लेखकों का वैसा इन्वाल्वमेंट भी नजर नहीं आता। सांस्कृतिक गतिविधियों में निम्नवर्ग शिरकत नहीं कर रहा। पूरे कला संसार पर भद्र वर्ग का दबदबा दिखता है। व्यावसायीकरण ने कलाओं को जरूरत से ज्यादा पापुलिस्ट बना दिया है। काफी हद तक यह टेलीविजन के प्रभाव का नतीजा है। मूल्यों का क्षरण व्यापक हो गया है।

उपन्यासकार के रूप में आप आजादी के बाद से अब तक के अंतराल को कैसे देखते हैं? इस विधा में क्या हम विकास कर पाए हैं? आज कोई बड़ा उपन्यासकार क्यों नहीं दिख रहा?

आजादी के तत्काल बाद तो कई बड़े उपन्यासकार हुए— रेणु, श्रीलाल शुक्ल। यशपाल का *झूठा सच* भी आजादी के बाद का है। अमृतलाल नागर ने कुछ अच्छे उपन्यास लिखे। अचानक उसके बाद अच्छे उपन्यासकार गायब ही हो गए। वैसे इसके दो-तीन कारण मुझे नजर आते हैं। पहला तो यही है कि आजादी के कुछ समय बाद पूरे परिदृश्य पर कहानी छा गई। यह वह समय था जब पत्रकारिता का भी विकास हो रहा था। उसने कहानी के लिए ज्यादा जगह बनाई। कहानी को आसानी से छापा जा सकता था। उसकी कमर्शियल वैल्यू ज्यादा हो गई। हालांकि तब उपन्यास भी धारावाहिक रूप में छपे। शिवानी के कई उपन्यास ऐसे आए। लेकिन वह पापुलर किस्म का लेखन था। गंभीर उपन्यास कम ही छपे। उपन्यास लिखने के लिए जिन दो चीजों—श्रम और समय—की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, दोनों कम होते गए। उपन्यास लेखन प्रतिदान मांगता है, जबकि कहानियां लिखना तुलनात्मक रूप में ज्यादा सुविधाजनक है। यह काम कम समय और कम मेहनत से हो जाता है। यह भी हुआ कि हमारे यहां किताबों का बाजार विकसित नहीं हो सका। सरकारी खरीद ने पुस्तकों के स्वाभाविक बाजार को खत्म कर दिया। सरकारी खरीद की अपनी सीमाएं थीं इसलिए प्रकाशकों की ज्यादा पुस्तकें छापने और निजी पाठक को बेचने में रुचि ही नहीं रही। ज्यादा संख्या में एक किताब को छापने और बेचने की बजाय कई किताबें छापना उनके लिए ज्यादा मुनाफे का सौदा बन गया।

एक तीसरा कारण यह था कि 'नई कहानी' पूरे परिदृश्य को नियंत्रित

सुंदर चंद ठाकुर सुपरिचित कवि हैं।

करने लगी थी। बहुत सुनियोजित और प्रायोजित ढंग से इस आंदोलन ने कहानी को बेचा और भुनाया। यह ऐसा ही था जैसे कारपोरेट कंपनियां अपना उत्पाद बेचने के लिए मार्केटिंग रणनीति बनाती हैं। ऐसे में उपन्यास और उपन्यासकार धीरे-धीरे गायब होने लगे। यह हिंदी साहित्य के साथ घटित हुई बहुत बड़ी त्रासदी थी क्योंकि किसी भी भाषा का साहित्य बिना उपन्यास के समकालीन साहित्य में अपनी पहचान नहीं बना सकता।

आपने नई कहानी की बात की, तो नई कहानी के उस दौर को आप कैसे देखते हैं जब कमलेश्वर, राजेंद्र यादव और मोहन राकेश की त्रयी साहित्य की दुनिया में छाई हुई थी?

यह दौर बदलाव को अपने ही तरीके से रेखांकित करता है। नई कहानी का दौर उस बदलाव का प्रतीक है, जो आजादी के बाद मध्यवर्ग में आया। इन तीनों कहानीकारों और साथ में निर्मल वर्मा ने भी मध्यवर्ग की आकांक्षाओं, उसके जीवन के आकर्षणों, महत्त्वाकांक्षाओं और लालसाओं को अभिव्यक्ति देने वाली कहानियां लिखीं। यह वह दौर था जब मध्यवर्ग ने बड़े पैमाने पर उभरना शुरू ही किया था। आजादी मिल चुकी थी और अब उसके सामने कोई आदर्श नहीं था—सिवाय आगे बढ़ने के, यानी सुविधाएं बटोरने के। ऐसी कहानियां उनकी मानसिक, सामाजिक स्थितियों के सर्वथा अनुकूल थीं। संयोग यह भी रहा कि इन्हें एक ऐसा आलोचक मिला, जो मुख्यतः कविता का आलोचक था। उसने वक्त की जरूरत को जाने-समझे बिना ही इन कहानियों को खूब ग्लोरीफाई किया और कथा साहित्य की आलोचना को गलत रास्ते की ओर मोड़ दिया। हम आज तक इससे बाहर नहीं निकल पाए हैं। इस व्यक्ति के नेतृत्व में अकादमिक जगत ने, जो कि अपनी प्रकृति में ही दकियानूस होता है, इसे आंख मूंदकर अपनाया और आज भी उसी लीक को पीटा जा रहा है। परिणाम सामने है।

आपको क्या यह नहीं लगता कि इन कहानीकारों ने एक खास किस्म का रूमानी संसार रचा, जिसके चलते युवा पीढ़ी यथार्थ से कट गई, वह कल्पनाओं और सपनों में जीने लगी?

इन कहानीकारों ने सरलीकृत उपकरणों के जरिए पापुलर साहित्य रचा, जो अक्सर यथार्थ से अलग था। असल में यथार्थ को समझने की दृष्टि इनमें विकसित हो ही नहीं पाई क्योंकि आलोचना की भूमिका सदा से संदिग्ध रही। जैसा कि मैंने कहा, तब मध्यवर्ग उभर रहा था और उसकी आंखों में सिर्फ निजी सपने थे। इस मानसिकता में उसे प्रकृति और प्रेम की कहानियां खूब रुचीं। इसने कहानी के उद्देश्य को पूरी तरह पटरी से उतार दिया। जिस लेखन में न अंतर्दृष्टि हो, न ही कोई विजन हो, वह उथला होता ही है। इसीलिए इन कहानियों में आपको तत्कालीन समाज के बहुत सतही ब्यौरे मिलेंगे। वह साहित्य जो किसी समाज का प्रतिनिधि साहित्य न हो, जिसके जरिए तत्कालीन समाज की अंतर्धाराएं समझ न आ पाती हों, ऐसे साहित्य की उपयोगिता क्या हो सकती है? यह भी गौर करने की बात है कि इन कहानीकारों ने एक भी बड़ा उपन्यास नहीं लिखा। उपन्यास लेखन के लिए ज्यादा तार्किकता, विषय की गहरी समझ और व्यापक दृष्टि की जरूरत होती है, जो शायद इनमें नहीं थी।

एक और दुर्घटना घटी कि नई कहानी के आंदोलन के चलते इस गुटबाजी के बाहर का जो लेखन था, जिसमें वामपंथी और प्रगतिशील साहित्य को रखा जा सकता है जिन्होंने अलग होकर अपनी कुछ पहचान बनाने की कोशिश की, वह अपने लिए जगह न बना सका क्योंकि सारा स्पेस इस अर्द्ध-रूमानी साहित्य ने घेर लिया था। इसके अलावा प्रगतिशील लेखकों ने दूसरे किस्म के फार्मूले तलाश किए थे, जो इतने सरलीकृत थे कि उन्हें रचनात्मक कृति की श्रेणी में रखना असंभव है। आजादी को लेकर मोहभंग होने से समाज का बड़ा तबका निराशा में डूबा हुआ था। इन शोषित, वंचित और हाशिए पर धकेले जा रहे लोगों को केंद्र में रखकर किया गया लेखन फलते-फूलते मध्यवर्ग को नहीं भाया, इसलिए उस लेखन को पूरी तरह नकारा गया। उदाहरण के लिए, शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' जैसी कहानी को श्रेष्ठ बता दिया गया और उनकी 'दाज्यू' या 'बू' जैसी बेहतर कहानियों को तवज्जो नहीं दी गई। यह अचानक नहीं है कि इस दौर के प्रतिनिधि लेखक निर्मल वर्मा हैं, जिनकी हर रचना ऐंद्रिकता और रोमांटिक विवरणों से भरी हुई है। हिल स्टेशनों की सुंदरता और प्रेम में असफलता का बखान करती ये कहानियां उसी खास वर्ग के लिए लिखी गईं, जो सपनों में ज्यादा रहना चाहता था। मगर इन कहानियों की शिनाख्त करना और उनकी सीमाओं को रेखांकित करने का काम आलोचकों का था। प्रगतिशील होने का तमगा लगाने के बावजूद उन्होंने धान को भूसे से अलग नहीं किया और नतीजतन हिंदी-समाज को वह सब कुछ हजम करना पड़ा, जो बुनियादी रूप से उसे यथार्थ से काटने वाला था। इस दौर में शैलेश मटियानी ने जरूर यथार्थवादी और खुद के भोगे सत्य को उजागर करने वाली कहानियां लिखीं, मगर उन्हें लगातार श्रेष्ठजनों की अनदेखी का सामना करना पड़ा। गहरी हताशाओं ने उन्हें तोड़ दिया और इसने उन्हें कुल मिलाकर प्रतिक्रियावादी खेमे में धकेल दिया। कहना चाहिए कि इस दौर में साहित्य का कलात्मक और विचारधारा के रूप में विकास रुक गया।

कहीं ऐसा तो नहीं कि हमें आलोचना के क्षेत्र में प्रगति न करने का खमियाजा भुगतना पड़ रहा है। हर कवि-कथाकार खुद के श्रेष्ठ होने के भ्रम में लिखे जा रहा है और आलोचक बिना जाने-बूझे उन्हें सर-आंखों पर बिठाए हैं। विष्णु खरे ने कुछ कवियों की रचनाओं पर सवाल क्या उठाए, सब उन पर टूट पड़े!

सीधी-सी बात है कि अगर स्वस्थ, विश्लेषणात्मक और परिपक्व आलोचना होती तो इतनी असहिष्णुता, आत्ममुग्धता नहीं होती। अपने में यह बहुत भयावह है। हर विश्वविद्यालय— और विश्वविद्यालय अनगिनत हैं— में हिंदी के विभाग हैं। वहां हिंदी साहित्य पढ़ाया जाता है, उसमें पी-एच. डी., एम. फिल. आदि होते हैं, इन सभी के तहत मुख्य कार्य आलोचना होता है। इसके बावजूद क्या यह स्थिति आश्चर्यजनक नहीं है? अगर वहां ठीक से काम हो रहा होता, तो ऐसी नौबत आती? हिंदी में इतने अक्षम समीक्षक कहां से आ गए, यह शोचनीय है और इसके लिए मुख्य रूप से हिंदी की अकादमिक दुनिया जिम्मेदार है। आज पूरी हिंदी आलोचना बुरी तरह असंतुलित और पंगु नजर आ रही है। वहां कविता पर तो लेखन मिलता है पर उपन्यास तथा अन्य गद्य विधाओं पर कोई कुछ लिखने को तैयार नहीं है। आखिर ऐसा क्यों है कि आज हिंदी में उपन्यासों का एक भी आलोचक नहीं है। क्योंकि छात्रों-शोधकर्ताओं को मेहनत करने का प्रशिक्षण ही नहीं मिला। हिंदी की अकादमिक दुनिया ने जुगाड़ संस्कृति को खूब पनपाया है और ऐसे कामचोर पैदा किए, जिनके पास सतहीपन के सिवाय कुछ नहीं है। कहानियों, उपन्यासों पर लिखने के लिए समय चाहिए, परिश्रम चाहिए। इसके लिए गहराई में उतरना पड़ता है। समाज को समझने की कुव्वत के बिना इन विधाओं पर आलोचना संभव नहीं। आलोचक के पास दृष्टि भी होनी चाहिए। कविता में तुलनात्मक रूप से ज्यादा कष्ट नहीं उठाना पड़ता, इसलिए जिसे देखो, वही कविताओं पर कलम घिसने पर लगा है, लेकिन कथा साहित्य के मामले में खामोशी है।

अब जरा आपके उपन्यासों की बात की जाए। इनका कैसा रेस्पांस मिला आपको?

हिंदी के हिसाब से बहुत अच्छा कह सकते हैं। अभी कुछ दिन पहले पटना पुस्तक मेले से किसी का फोन आया था कि *लेकिन दरवाजा* पुस्तक

मेले में सबसे ज्यादा बिकने वाली किताबों में रहा। मेरे पहले दोनों उपन्यास पिछले तीन दशकों से कभी आउट आफ प्रिंट नहीं रहे हैं। वे रह-रहकर छपे हैं और उनकी मांग बनी हुई है। अब तो तीसरा उपन्यास *पंख वाली नाव* भी छपकर आ गया है।

आपने अपने पहले दोनों उपन्यासों में खुद को ही नायक बनाया है, कोई खास वजह?

अगर उपन्यास पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि नायक खुद मैं ही हूं, तो एक हद तक यह सही भी है। ऐसा मैंने प्रयोजन के साथ किया है। साहित्यिक रचनाओं की विशेषता ही यह होती है कि उनमें बुनियादी तौर पर रचनाकार का जीवन और जीवनानुभव शामिल होते हैं। इन अनुभवों को लाए बिना कोई रचना संभव नहीं। तकनीकी स्तर पर भी प्रथम पुरुष में आख्यान कुछ सुविधाजनक हो जाता है। हम अपने अनुभव को ज्यादा विश्वसनीय ढंग से व्यक्त कर पाते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि उपन्यासों के नायकों के सारे अनुभव मेरे अनुभव ही हों। मैं दोनों उपन्यासों में इस रूप में उपस्थित हूं कि दोनों कथाएं मेरे जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टि के मुताबिक ही गढ़ी गई हैं। *लेकिन दरवाजा* का नायक, जो लोग मुझे व्यक्तिगत रूप से जानते हैं कि मैं कैसा हूं, उससे वह जरा भी मेल नहीं खाता। इस उपन्यास में मुख्यतः मैंने एक लेखक के रूप में दिल्ली में जो साहित्यिक-सांस्कृतिक पतन देखा, जो विकृतियां देखीं, उन्हीं का एक चित्र खींचने की कोशिश की है।

_उस चिड़िया का नाम_ पढ़ते हुए लगता है कि आप एक-एक कर पहाड़ के जीवन की मुश्किलों से वाबस्ता हो रहे हैं। लेकिन दूसरे हिस्से में पहाड़ की लोककथाओं के लंबे ब्यौरे हैं। आपने जब उपन्यास लिखना शुरू किया था, तो ऐसी कुछ पूर्व योजना थी कि आप उपन्यास के जरिए क्या कुछ कहने की कोशिश करेंगे?

नहीं, दिमाग में पहले से कोई खाका बनाकर नहीं चला था। मंशा सीधी कहानी कहने की थी कि एक आधुनिक व्यक्ति जब तमाम किस्म की रूढ़ियों से भरे एक ठहरे हुए समाज में जाता है, तो किन-किन चीजों से टकराता है। असल में मैंने नैतिकता-अनैतिकता और जन्म-मरण जैसे शाश्वत सवालों को एक बार फिर टटोलने की कोशिश की है। उपन्यास में जो चिड़िया को खोजने का उपक्रम है, उसका संबंध जीवन की अनिश्चितता और अनजानेपन से है, सत्य और मिथ्या, सही और गलत की एक निजी तलाश से है। क्योंकि पृष्ठभूमि पहाड़ की थी इसलिए पहाड़ की प्रकृति का जिक्र स्वाभाविक ही था। ऐसे में मुझे लगा कि मैं यहां के जीवन, संस्कृति, इतिहास और लोककथाओं पर भी नजर डाल सकता हूं।

आपके अधूरे उपन्यास का विषय क्या है?

उसमें मैं आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों के बीच स्त्री-पुरुष संबंधों की पड़ताल करने की कोशिश कर रहा हूं।

उपन्यास के क्राफ्ट की बात करें, तो मार्खेज के यहां बेहद लंबे वाक्य मिलते हैं और दृश्यों का बीहड़ वर्णन भी, मगर हिंदी उपन्यासों में, जितने भी मैंने पढ़े हैं, बहुत छोटे वाक्य विन्यास ही नजर आते हैं, क्या ऐसा पाठकों के दबाव के चलते है कि लेखकों को लगता है कि वे लंबे और जटिल वाक्य नहीं समझ पाएंगे? वैसे लंबे वाक्यों से लेखक अपना बौद्धिक पहलू बेहतर ढंग से खोल, व्यक्त कर सकता है। नहीं?

मेरे विचार में वाक्य-विन्यास इस बात पर निर्भर करता है कि आपकी विषयवस्तु की डिमांड क्या है। किस तरह उसे बेहतर अभिव्यक्ति दी जा सकती है। वह इस पर भी निर्भर है कि लेखक में बात कहने की कितनी बेचैनी है। कई लेखकों की प्रवृत्ति होती है कि वे नए-नए प्रयोग करना चाहते हैं। वे कोशिश करते हैं कि हर विषयवस्तु को नए से नए तरीके से कहें। हिंदी में कृष्ण बलदेव वैद और विनोद कुमार शुक्ल की वाक्य-संरचना विशिष्ट है। वैद की भाषा ज्यादा आधुनिक है। उसमें भाषा के फ्रिल्स नहीं दिखते हैं। लंबे वाक्यों की जरूरत तब पड़ती है जब आपको जटिल बातों को खोलना होता है। क्योंकि विषय की जटिलताओं को सपाट तौर पर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अगर कोई ऐसा कर पाए, तो उसे बड़ा कलाकार माना जाएगा।

आपने गंभीर उपन्यासों के अलावा बच्चों के लिए भी लिखा है। मुख्यधारा साहित्य में ऐसा बहुत कम लेखकों ने किया है, आखिर क्यों हमारे यहां बाल साहित्य इतना नजरअंदाज हुआ है?

मैंने बाल साहित्य के नाम पर एकमात्र बड़े काम के रूप में उपन्यास *गोलू और भोलू* लिखा है, जिसे नेशनल बुक ट्रस्ट ने छापा। दुर्भाग्य ही है कि हिंदी में बाल साहित्य लिखने की परंपरा विकसित नहीं हो पाई। प्राइवेट प्रकाशकों की बाल साहित्य में कभी ज्यादा दिलचस्पी नहीं रही। एनबीटी अकेली संस्था है, जहां से बाल साहित्य पर रायल्टी मिल सकती है। वैसे इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि बाल साहित्य जितना महत्त्वपूर्ण है, वह उतना ही चुनौतीपूर्ण भी है। वह बाल साहित्य तो होता है, लेकिन उसे बाल बुद्धि से लिखना संभव नहीं। उसके लिए बच्चों की मानसिकता को ध्यान में रखकर और बच्चों की नजर से दुनिया को देखना होता है। यही वजह है कि हिंदी में बहुत कम बाल साहित्य दिखता है और जो है भी, तो वह बहुत सतही है। इसलिए हिंदी वाले बाल साहित्य के मामले में अंग्रेजी से अनुवाद ही ज्यादा करवा रहे हैं। हिंदी की तुलना में अंग्रेजी में बाल साहित्य प्रचुर है। बल्कि वहां बाल साहित्य के कई स्तर दिखाई देते हैं। उन बच्चों के लिए जिन्हें सिर्फ चित्र देखकर ही चीजें समझ आ सकती हैं, वे जिन्हें थोड़ा-बहुत अक्षर ज्ञान है, वे जो पढ़ सकते हैं और फिर वे जो सात-आठ साल के या किशोर वय में पहुंच चुके हैं, अंग्रेजी में आपको इन सबके लिए अलग-अलग साहित्य मिलेगा।

आपको सुमित्रानंदन पंत की कई कविताओं की पंक्तियां कंठस्थ हैं। लेकिन इधर नई कविता की ओर आपका रुझान कुछ कम दिखता है, कविताओं को लेकर आपकी क्या धारणा है?

कविताएं मुझे कई कवियों की याद हैं– मीरा, कबीर, सूर, शैली, कीट्स, प्रसाद, ग़ालिब, मीर, ज़ौक, फ़ैज़, नेरूदा, एलियट और ऑडन। पर समकालीन हिंदी कविता के साथ समस्या यह है कि वह बहुत ज्यादा लिखी जा रही है। मेरे पास इतना समय नहीं कि मैं हर कवि की रचनाओं को पढ़ सकूं। लेकिन कोशिश रहती है कि जो भी कुछ खास लिखा जा रहा है, उसे जरूर पढ़ूं। कविताओं में मेरी दिलचस्पी पहले से रही है और मैंने कई समकालीन कवियों पर लिखा भी है। शमशेर पर तो मैंने बहुत पहले ही लिखा था। इधर मंगलेश डबराल, कात्यायनी, वीरेन डंगवाल आदि पर भी लिखा और बोला है। आलोकधन्वा, राजेश जोशी और कई दूसरे प्रमुख कवियों को मैंने पढ़ा है। मेरी कोशिश रही है कि *समयांतर* में भी अच्छे कविता संग्रहों की समीक्षाएं प्रकाशित हों। यह इसके बावजूद है कि *समयांतर* में हम गैर रचनात्मक लेखन को तरजीह देते हैं। वैसे निजी स्तर पर मुझे मीरा हमेशा से बहुत पसंद रही है–अपने विद्रोही और निडर चरित्र के कारण। उनके काव्य और व्यक्तित्व पर एक यात्रा संस्मरण के बहाने मैंने लंबा लेख भी लिखा है। मुझे उर्दू के कितने ही शायर बेहद पसंद रहे हैं। मैं आज भी मौका मिलने पर मीर, ग़ालिब, ज़ौक, फ़ैज़ का लिखा पढ़ता-सुनता हूं।

दो उपन्यास और कई कहानियां लिखने और हिंदी साहित्य जगत में परिचित नाम होने पर आपको लगा होगा कि आपकी साहित्यकार बनने की आकांक्षा पूरी हो गई। ऐसा लगता है कि एक समय बाद जैसे आपका इनसे मन भर गया और आपने रचनात्मक लेखन त्यागकर

सारा ध्यान अपनी पत्रिका *समयांतर* निकालने में लगाना शुरू कर दिया?

स्थितियां ऐसी आईं कि मुझे एक को चुनने पर मजबूर होना पड़ा। मैं अगर स्वतंत्र होता, तो लेखक बनना ज्यादा पसंद करता, पत्रकार नहीं। हालांकि अब भी मैं रचनात्मक कामों के लिए समय निकाल ही लेता हूं। एक अधूरे उपन्यास पर काम जारी है। बीच में एक छोटा उपन्यास *पंख वाली नाव* लिखा, जो अब छपकर आ गया है। कुछ कहानियां भी लिखीं। लेकिन यह सही है कि मेरा सारा ध्यान *समयांतर* की ओर बना रहता है। जब नौकरी छोड़ी, स्थितियां उससे पहले से ही बिगड़ रही थीं, रचनात्मक माहौल अच्छा न था। हिंदी ही नहीं, बल्कि कहना चाहिए, हिंदी-समाज के संदर्भ में चीजें बदतर हुई जा रही थीं। मुझे लगा कि राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों में हस्तक्षेप करने के लिए सीधे बात करने की जरूरत है। मुख्यधारा के मीडिया में इनके लिए जगह लगातार घटती जा रही है।

पर पंकज जी, यह काम तो आप *आजकल* में भी कर ही रहे थे? तब फिर आपने नौकरी क्यों छोड़ी?

आजकल के साथ मेरा संबंध नौकरी करने से कहीं ज्यादा का रहा है। अपनी युवावस्था में मैं पत्रिका से जुड़ा और कुल मिलाकर दो हिस्सों में बीस वर्ष तक मैं इससे जुड़ा रहा। मैं इसका उप संपादक रहा, फिर सहायक संपादक के रूप में कार्य किया और अंततः संपादक बना। यह मेरे लिए एक पाठशाला, एक प्रशिक्षण केंद्र और एक हद तक एक ऐसा मंच भी रहा जिसके माध्यम से मेरी संपादक के रूप में एक पहचान बनी। *आजकल* से अलग होने के बाद एक लेखक के तौर पर शायद मैं इसमें ज्यादा छपा। इसके बावजूद लेखकों से मिलने, उनसे लिखवाने और इस प्रक्रिया में उनसे सीखने का अवसर कोई छोटा अवसर नहीं कहलाएगा। *आजकल* का संपादक बनना मेरे लिए गौरव का विषय है। इसके संपादकों में मुझसे पहले कई दिग्गज रह चुके थे। विशेषकर देवेंद्र सत्यार्थी का नाम एक मायने में *आजकल* का पर्यायवाची ही कहा जाएगा। इस पर भी प्रश्न हो सकता है कि एक जमी-जमाई पत्रिका को मैंने क्यों छोड़ा, वह भी तब जब कि मुझे बिना किसी हस्तक्षेप के काम करने का मौका मिला हुआ था। निश्चय ही *समयांतर* को निकालना एक तरह से कई संकटों को मोल लेना था। सबसे बड़ी बात यह है कि नौकरी करना आसान होता है। अपनी पत्रिका एक कठिन प्रिपोजीशन होती है। पर अपनी पत्रिका निकालने का कम से कम एक लेखक के लिए सबसे बड़ा आकर्षण उसका मंच होता है जिसके माध्यम से वह अपनी बात कह सकता है। *समयांतर* का मुख्य उद्देश्य यही था। आज मैं अपने चारों ओर जो देख रहा हूं उसके चलते पूरे विश्वास से यह कह सकता हूं कि *आजकल* में जो स्वतंत्रता रही है वह किसी भी निजी क्षेत्र की पत्र-पत्रिका से ज्यादा रही है। इस पर भी हर पत्रिका के अपने उद्देश्य होते हैं और होती हैं सीमाएं, जिनमें रहकर एक संपादक को काम करना होता है। जो संपादक उन सीमाओं को पार करना चाहता हो, उसके लिए विकल्प वही रहता है जो मैंने अपनाया। यह खतरनाक हो सकता है पर एक उम्र के बाद, या कहिए, एक समझ पर पहुंच जाने के बाद लाभ-हानि ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता है।

आपने *समयांतर* को अपने न्यूनतम संसाधनों के बावजूद एक सफल पत्रिका बनाने की कोशिश की है। समय-समय पर इसने अपने विशेषांकों के जरिए बड़े और वाजिब मुद्दे भी उठाए हैं। तो क्या आप *समयांतर* की अब तक की यात्रा से संतुष्ट हैं?

मैं निजी कोशिश के तौर पर बहुत सीमित लक्ष्य लेकर चला था। उन लक्ष्यों को तो मैंने हासिल कर लिया है। यह कुछ हद तक संतोष का विषय हो सकता है। लेकिन सैद्धांतिक स्तर पर जिन उद्देश्यों को लेकर यह पत्रिका निकाली गई, जिनमें पत्रिका के जरिए सामाजिक, साहित्यिक और बौद्धिक हस्तक्षेप मुख्य है, वहां मैं संतुष्ट नहीं हूं। हम जितने बड़े समाज का हिस्सा हैं, उसकी तुलना में हमारा हस्तक्षेप कुछ नहीं है। हम ज्यादा लोगों तक भी नहीं पहुंच पाए। गो कि *समयांतर* अपनी खास छवि बना पाई है और उसका कुछ हद तक अपना अलग प्रभाव भी है लेकिन एक वृहत्तर समाज की संचेतना तक अपनी पहुंच बनाने का मेरा लक्ष्य हासिल नहीं हो सका है।

कुछ लोग आपकी पत्रकारिता की शैली को बहुत आक्रामक मानते हैं। आपने संस्थाओं और व्यक्तियों पर बराबर तीखे प्रहार किए हैं।

हिंदी में मुश्किल यह है कि यहां चाटुकारिता कुछ ज्यादा है और लोग मध्यमार्ग ही पसंद करते हैं। उसे देखते हुए हमें कुछ अलग तो होना ही था। वैसे तीखे प्रहार वाली पत्रकारिता अपने में अपवाद नहीं है। अंग्रेजी में और विदेशों में यह आम बात है--बिना लाग-लपेट के अपनी बात कहना और चीजों का वस्तुपरक ढंग से विश्लेषण करना। आक्रामक होना हमारा मकसद नहीं है। अगर कोई बात तथ्यपरक न हो, उसमें मुद्दों का ठीक विश्लेषण न हो, तो अकेली आक्रामकता से कुछ नहीं होगा। मेरा यह मानना है कि अगर तथ्य सही हों, उनका सामाजिक महत्त्व हो, मसला गंभीर हो, तो आक्रामकता भी जरूरी है।

कभी ऐसा लगा कि पत्रिका के चलते आपका रचनात्मक लेखन खत्म हो रहा है, इसलिए इसे बंद करके अपना लेखन जारी रखा जाए?

आज तक तो कभी ऐसा नहीं लगा। यह माना कि *समयांतर* के लिए मुझे ज्यादा समय और श्रम करना पड़ता है और यह सब न करना पड़ता तो अब तक मैं अपना उपन्यास भी पूरा कर चुका होता। लेकिन मैं यह सोचता हूं कि यह दौर ज्यादा सक्रिय और स्पष्ट भूमिका का है। अगर हम बदलाव चाहते हैं तो कुछ त्याग तो करना ही होगा। किसी को तो पहल करनी ही होगी। अब इतना जरूर हो गया है कि कई बार शारीरिक रूप से लगता है कि मेरी सीमा आ गई है। इसीलिए चाहता हूं कि और लोग पत्रिका से जल्दी से जल्दी जुड़ें और जिम्मा उठाएं। चाहता तो मैं यह हूं कि तब तक पत्रिका कम से कम आर्थिक रूप से इस स्थिति में पहुंच जाए कि संपादक की नियुक्ति की जा सके।

आपने हिंदी-अंग्रेजी पत्रकारिता को करीब से देखा है। दोनों में क्या फर्क है और उनका भविष्य कैसा नजर आता है?

दोनों भाषाओं के बीच बुनियादी फर्क पाठकों का है। जिसके पास जैसे पाठक हैं, वह उसे वैसा ही माल परोस रहा है। हिंदी का पाठक निम्न वर्ग का है और उपभोक्ता के रूप में सचेत नहीं है इसलिए एक पाठक के रूप में वह अपने को एसर्ट नहीं कर पाता। नतीजा यह है कि उसे घटिया माल दिया जा रहा है, जबकि अंग्रेजी का पाठक ज्यादा सचेत और प्रभावशाली है। अंग्रेजी अखबार अपनी संख्या में कई गुना ज्यादा प्रभाव रखते हैं क्योंकि उनकी पहुंच सीधे शासक वर्ग में है। दूसरी ओर हिंदी से मध्य और उच्चवर्गीय पाठक गायब हो चुका है, जो अखबारों की विषयवस्तु को प्रभावित कर सकता था। इस स्थिति का फायदा मालिक लोग उठा रहे हैं। अंग्रेजी अखबार अपने संपादकों व दूसरे पत्रकारों को सोच-समझकर अपाइंट करते हैं, लेकिन हिंदी में किसी को भी संपादक की कुर्सी पर बैठा दिया जाता है। जब ऐसा ही संपादक होगा और उसके ऐसे ही सहयोगी होंगे, तो काम की क्वालिटी भी हमें ऐसी ही मिलेगी। इसके बावजूद हिंदी के पाठक बढ़ रहे हैं। क्योंकि हिंदी समाज का आधा हिस्सा अभी भी अशिक्षित है। शिक्षा धीरे-धीरे ही सही, पर फैल रही है। यह वर्ग दुनिया को जानना चाहता है पर सचेत नहीं है।

हिंदी लेखन में एक खास किस्म की नैतिकता का आभास होता है। लेखक हमेशा किसी न किसी किस्म के आदर्श को लेकर चलते हैं, जबकि समाज में आज इसका उलट हो रहा है। वहां आदर्श और नैतिकताएं बिखर रही हैं। अगर आदर्शों और नैतिकताओं का बोझ

हमें परंपरा से मिला है, तो क्या अब समय नहीं आ गया कि हम इससे अलग होकर अपने समाज के सच को उद्घाटित करें?

हिंदी समाज के साथ दिक्कत यह है कि वह एक विभाजित समाज है। मानसिकता के स्तर पर उसकी प्रेरणाएं मध्यकाल में धंसी हुई हैं, जबकि व्यवहार में विकसित देश उसके मार्गदर्शक बन रहे हैं। हिंदी लेखक चीजों को तटस्थ होकर नहीं देख पा रहे। वे उनका विश्लेषण करने की स्थिति में नहीं लगते। इसकी एक वजह यह भी है कि हिंदी के अधिकांश लेखकों का संबंध निम्न मध्यवर्गीय परिवारों से है। ये परिवार अपनी सामाजिक स्थिति के चलते आज भी रूढ़िवादी बने हुए हैं। इसलिए इन लेखकों में आधुनिकता का अभाव है। आप देखेंगे कि हिंदी के कई बड़े लेखकों पर भी सांप्रदायिक और जातिवादी होने के आरोप लगते रहे हैं। ऐसा इसलिए होता है कि उनका सोच सामंती व्यवस्था से ही बना, विकसित हुआ है। इस व्यवस्था की विशेषता ही पाखंड होती है। वह बुराइयों को ऊपर से दबाने की कोशिश करती है, पर भीतर से व्यभिचारी और प्रतिगामी होती है। खाप पंचायतें इसका उदाहरण हैं। एक और दुर्भाग्य यह हुआ है कि हिंदी पट्टी के संपन्न या उच्चवर्गीय परिवारों से निकले लेखकों ने हिंदी छोड़कर अंग्रेजी को अपना लिया। हिंदी लेखकों में पश्चिमी समाज को लेकर भी कोई गहरी समझ नहीं है। वे सिर्फ भौतिक चीजों को देखकर अपनी धारणा बना लेते हैं, उन समाजों की मानसिकता को समझने की कोशिश नहीं करते। मुझे डर है कि हिंदी लेखन में यह समस्या अभी बनी रहने वाली है। जब तक यहां कोई साहित्यिक, सांस्कृतिक आंदोलन नहीं होता और हम परंपराओं से हटकर आगे देखने की आदत नहीं डालते, चीजें नहीं बदलने वाली।

आपके साठ वर्ष का होने पर कुछ नौजवानों ने मिलकर एक कार्यक्रम किया था, जहां *समयांतर* के संघर्ष और अपने निजी जीवन में बहनों और पत्नी के सहयोग को याद करते हुए आप रो पड़े थे। तो क्या बाहर से सख्त दिखने वाला पंकज बिष्ट भीतर से बहुत नरम और भावुक व्यक्ति है?

मैं मानता हूं कि बाहर से मैं अक्खड़ दिख सकता हूं, लेकिन यह मेरे व्यक्तित्व का बाहरी पक्ष है। मैं जो स्टैंड लेता हूं, जहां भी गलतियां दिखती हैं, अन्याय नजर आता है, उसके खिलाफ अपनी बात कहने से नहीं चूकता। विरोध करते हुए कई बार अगर आक्रामक नजर आता हूं, तो इसकी बुनियादी वजह शायद यही है कि मूलतः मैं एक संजीदा और कुछ हद तक भावुक इंसान हूं। मैं बहुत कैलकुलेटेड ढंग से कभी नहीं चला। मुझे लगा, जिसका विरोध किया जाना चाहिए, उसका खुलकर और सीधे-सीधे विरोध हो। मैंने परिणाम की कभी चिंता नहीं की। यह सब मेरे स्वभाव की ही प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि मेरा असंतोष और गुस्सा मेरी निजी असफलता या महत्त्वाकांक्षाओं से नहीं जुड़ा है। उसका संबंध मेरे सामाजिक सरोकारों और भावात्मक संबंधों से है, जो मैं अपने लोगों के प्रति महसूस करता हूं, जिनके कारण मैं अपने प्रति दूसरों के योगदान के लिए स्वयं को कृतज्ञ और उपकृत पाता हूं। इस पर भी मेरे उद्गारों और भावावेश का संबंध मेरे प्रतिदान की सीमा से माना जा सकता है। मुझे लगता है, निजी तौर पर मुझे दूसरों के प्रति जो करना चाहिए था, वह मैं नहीं कर पाया हूं। अपने नजदीकी लोगों के प्रति वह विरल सार्वजनिक अभिव्यक्ति थी। इससे मैं अनुचित मानकर बचता रहा हूं क्योंकि आभार प्रकट करना एक हद तक अपने दायित्व, अपने प्रतिदान से मुक्त हो जाने की प्रक्रिया ही कहा जा सकता है। वैसे भी संवेदनशील होना लेखक होने की पहली शर्त है। ❑

संपर्क : 344, निर्माण अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091

प्रगतिशीलता और शास्त्रीयता का समन्वय

पृष्ठ 8 से आगे

की चर्चा करते हुए लिखा है—'शांताराम की फिल्में जहां उनकी प्रखर सामाजिक दृष्टि के कारण उल्लेखनीय हैं, वहीं शृंगार रस उनकी फिल्मों की कमजोरी कही जा सकती है। यह अलग बात है कि फिल्म में शृंगार रस के लिए उनकी कमजोरी फिल्मों के सामाजिक पक्ष पर हावी नहीं होती थी। वह अपनी फिल्मों में सामाजिक हलचलों से उसी तरह जुड़ते थे जिस तरह साहित्य में मुंशी प्रेमचंद।'

शांताराम ने 1955 में संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, द्वारा आयोजित फिल्म सेमिनार में भारतीय फिल्म निर्माताओं के दायित्व के विषय में जो कहा था, वह आज भी बहुत हद तक प्रासंगिक है—'निर्माता की राष्ट्र के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में बड़ी भूमिका है, यह केवल सैद्धांतिक बहस का विषय नहीं है। वह किस हद तक अपनी भूमिका निभाता है और अपने दायित्वों को पूरा करता है यह न केवल भारत में फिल्मकला की प्रगति को निर्धारित करेगा, बल्कि भारत के विकास को भी।'

भारत के भविष्य यानी बच्चों के लिए सार्थक फिल्मों के निर्माण के प्रति भी शांताराम जागरूक रहे। उल्लेखनीय है कि उनके द्वारा निर्देशित मूक फिल्म 'रानी साहबा' (1930) को हिंदी की पहली बाल फिल्म माना जाता है। इसी तरह, बच्चों की प्रिय एनिमेशन शैली में पहली फिल्म बनाने का गौरव भी वी. शांताराम को प्राप्त है। यह फिल्म थी—1935 में बनी 'जंबू काका'। 1961 में राजकमल कलामंदिर द्वारा 'फूल और कलियां' तथा 'काले गोरे' नाम की छोटी बाल फिल्में बनाई गईं। सुलभा देशपांडे निर्देशित शांताराम प्रोडक्शन की बाल फिल्म 'राजा रानी को चाहिए पसीना' (1979) बच्चों को मेहनत का संदेश देती हैं। वे 1977 में चिल्ड्रेन फिल्म सोसाइटी के अध्यक्ष बने और अपने कार्यकाल में बाल फिल्मों के निर्माण तथा उन्हें बच्चों तक पहुंचाने में महत्त्वपूर्ण काम किया।

शांताराम जैसे व्यक्तित्व से जुड़कर बड़े-से-बड़े पुरस्कार और सम्मान जैसे स्वयं ही प्रतिष्ठित हुए। भारतीय सिनेमा को विदेशी समारोहों और दर्शकों तक पहुंचाने की पहल करने वाले फिल्मकारों में वे अग्रणी थे। उनकी फिल्में वेनिस, कांस, बर्लिन, बोस्टन आदि शहरों के फिल्म समारोहों में भेजी गईं और पुरस्कृत हुईं। 'दो आंखें बारह हाथ' और 'झनक झनक पायल बाजे' उनकी सर्वाधिक पुरस्कृत फिल्में हैं। 1985 में उन्हें दादा साहब फाल्के अवार्ड दिया गया और 1992 में मरणोपरांत उन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया। अब उनकी स्मृति में वी. शांताराम फाउंडेशन की ओर से प्रतिवर्ष उत्कृष्ट फिल्मों और कलाकारों को 'वी. शांताराम पुरस्कार' दिया जाता है।

शांताराम की सृजन-यात्रा शास्त्रीयता और लोकप्रियता के बीच संतुलन की यात्रा है, यथार्थ में सौंदर्य और सौंदर्य में यथार्थ की खोज की यात्रा है। अपने सफल-सार्थक, लेकिन संघर्षपूर्ण जीवन के बारे में शांताराम के शब्द थे—'अपनी आयु के उन्नीसवें वर्ष से इस कला के महासागर में मैं हमेशा धाराप्रवाह के विरुद्ध दिशा में ही तैरता आया हूं।' 1987 में फिल्म 'झंझार' की असफलता के साथ ही इस जुझारू फिल्मकार के शानदार निर्देशकीय जीवन पर विराम लग गया था। 30 अक्टूबर 1990 को, हमेशा तूफानों से लड़ने वाला यह दिया दैहिक रूप से भी बुझ गया, किंतु इस कलाकार की कृतियां उन जाज्वल्यमान नक्षत्रों की तरह हैं, जिनका प्रकाश कभी कम न होगा। ❑

संपर्क : आर जेड एफ : 760/37-बी, गली नं. 3, राजनगर पार्ट-2, पालम कालोनी, दिल्ली-110077,

कहानी

डेड वैली

आशा प्रभात

रेखांकन : विज्ञानव्रत



"सीमी, तेरे बच्चों की शादी तो हो गई है न?" सिक्ता दी अचानक पूछती हैं।

अप्रैल के पहले हफ्ते की हल्की गर्म शाम है। हम पार्क का चक्कर लगाकर बेंच पर बैठी थकान मिटा रही हैं। हम यानी मैं, सिक्ता दी और नीना। तीनों का यों एक साथ मिलना कभी-कभार ही होता है, वरना वॉक के दौरान अक्सर 'हाय, हलो' करती, चक्कर लगाती बाहर निकल जाया करती हैं। कभी सर्दी की सुबह में तो कभी गर्मी की शाम में। पार्क के चारों तरफ निश्चित दूरी पर बनी पुख्ता बेंचों पर दो-दो, तीन-तीन की संख्या में बैठे लोग या तो चुप हैं या परिचितता में खुद को बांट-समेट रहे हैं। पार्क के कोनों पर प्रहरी की भांति खड़ी निओन लाइटें अभी जली नहीं हैं।

"हां, पिछले साल ही तो दूसरे बेटे की शादी हुई, आप तो आई ही थीं शादी में।" मैं उन्हें याद दिलाती हूं। ताज्जुब है कि उन्हें याद कैसे नहीं रहा।

"हां रे, याद आया। बड़ी प्यारी बहू थी तेरी, बिल्कुल गुड़िया जैसी!" वे पुरजोश आवाज में कहती हैं। फिर फौरन ही कहती हैं– "अब अक्सर कुछ बातें याद नहीं रहतीं। बुरा मत मानना, सीमी!" उनकी मद्धिम आवाज में भूलने का पछतावा घुल आया।

कहना चाहती हूं–'उम्र का तकाजा है यह। पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा है, बढ़ती उम्र में अलजाइमर का प्रभाव बढ़ जाता है!' पर कहती नहीं। बढ़ती उम्र को अक्सर लोग गाली की तरह लेते हैं यहां। मुझे लगता है, ऐसा नहीं होना चाहिए। जिंदगी के एवरेस्ट को फतह करने के बाद मीलों ऊंचा और मुश्किल सफर, जद्दोजहद और उन आम कठिनाइयों को पार करने के बदले हासिल तजुर्बा बहुत मूल्यवान होता है। एवरेस्ट के नीचे खड़े होकर उसकी ऊंचाई और ऊंचाई से बौनी लगती नीचाई का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

सिक्ता दी अब लगभग सत्तर साल की हो गई हैं। मशहूर सर्जन और स्त्री रोग विशेषज्ञ सिक्ता दी को रिटायर हुए भी दस साल हो रहे हैं। पर उनकी चुस्ती-फुर्ती तथा चेहरे की कसावट से उम्र का अंदाजा लगाना मुश्किल है। वॉक में वह ऐसे चलती हैं जैसे उनकी पीठ पर रिवाल्वर रखा गया हो। कितने लोगों के टखने उखड़ चुके हैं उनकी बराबरी करने में।

"आपके बच्चे बाहर ही हैं न?" मैं उनसे पूछती हूं।

मुझे मालूम है उनकी दोनों बेटियां दिल्ली में अपने-अपने डाक्टर पति के पास और इकलौता डाक्टर बेटा मुंबई में सेटल है। यह सवाल यों ही रस्मन है– बातों का सिलसिला जारी रखने के लिए।

"तुझे नहीं मालूम?" मेरे प्रश्न पर वे गुस्से नहीं, आश्चर्य से पूछती हैं।

"मालूम तो है पर सोचती हूं कि यहां जो इतना बड़ा क्लीनिक है आपका तो कोई यहां रहने को सोचता ही होगा।"

"नहीं रे, दिल्ली-मुंबई छोड़कर इस छोटे-से शहर में कोई क्यों रहना चाहेगा?" वे कहती हैं। उनके शब्दों में शाम की उदासी का आभास होता है। नीना भी शायद ऐसा ही महसूस करती है। बहुत देर से चुप नीना एक अच्छे श्रोता की तरह हमारी बातें सुन रही थी, अब सजग होती कहती है–

"बच्चे जहां भी रहें, खुश रहें। हमें और क्या चाहिए! दूर हैं तो प्यार है दिलों में। जिनके बच्चे करीब हैं, वे भी कहां करीब हैं?"

नीना की बात सिक्ता दी को अच्छी नहीं लगी है शायद। वे तैश में कहती हैं–

"यह फलसफा है हारे हुए लोगों का! भोगने

आशा प्रभात सुपरिचित कथाकार हैं।

वालों का अनुभव कुछ दूसरा ही है। इस अहसास को वे नहीं समझ सकते जिन्हें इसका अनुभव न हो।"

कुछ देर चुप्पी पसर जाती है हमारे बीच।

पार्क में भीड़ बढ़ गई है। ज्यादातर उम्र के तीसरे या आखिरी पायदान पर अटके या लटके लोग हैं—सुस्त लड़खड़ाते कदमों की घड़ी के सहारे संतुलित करते। उदास चेहरे, पोपले मुंह लिए, जिन्हें 'डेड वैली' की बड़ी-बड़ी कब्रों से निकली आत्माएं कहती हैं।

'डेड वैली'! पहली बार उनके मुंह से यह नाम सुनकर बेहद ताज्जुब हुआ था मुझे। पति के इस शहर में तबादले के बाद आशियाने की खोज में भटकती मुझ परेशान हाल को सस्ता, सुंदर और टिकाऊ मुहावरे के साथ लोगों ने पाटलिपुत्र मुहल्ले का नाम सुझाया था कि 'मुख्य शहर से आधे किराये में दुगुना एरिया मिल जाएगा वहां।' मैं खुश हो गई थी। मुख्य शहर से थोड़ी दूरी ही सही, पर दुगुने एरिया का सवाल था सो नीना से आग्रह किया मैंने इस खोजी अभियान में साथ चलने के लिए पाटलिपुत्र तक। सुनकर ठहाका मारकर हंसी थी नीना। "तो तुम 'डेड वैली' में रहना चाहती हो?" सांसें हमवार होने पर उसने पूछा था।

चौंक गई थी मैं पाटलिपुत्र कालोनी के इस नए नामकरण पर। पाटलिपुत्र, जो कभी पटना का पाश तथा वी.आई.पी. कालोनी माना जाता था। तब नीना ने इस नामकरण का विश्लेषण करते हुए विस्तार से बताया था कि—कैसे ऊंची-ऊंची चारदीवारियों, चौड़े-चिकने रास्तों, डिजाइनदार बड़े-बड़े बंगलों तथा बड़े-बड़े हरे-भरे तथा खूबसूरत रंग-बिरंगे फूलों भरे लॉन के दरमियान कभी जोरदार ठहाके तथा किलकारियां गूंजा करती थीं। अब उन उदास बेरंग प्लास्टर झड़ती चारदीवारियों के अंदर कहीं एकाध नौकर, कुत्ते या जोड़ी बिछड़े बूढ़े या बुढ़िया अभिशप्त आत्माओं की तरह भटकती, डोलती नजर आती हैं। किलकारियां समेटे उनके बच्चे परिंदों की तरह जाने कहां-कहां अपना घोंसला आबाद किए बैठे हैं। शोभा या शो के लिए लगाए गए पेड़-पौधे बुढ़ाकर अपने रोएं झाड़ने लगे हैं। उन कब्रों को गुलजार करते हैं तो सिर्फ परिंदे जो उन पेड़ों पर घोंसला आबाद किए बैठे हैं। नीना के प्रयास से ही नए आबाद होते पाटलिपुत्र कालोनी में घर मिल गया था मुझे।...

"तुम्हारा लड़का कहां है, नीना?" सिक्ता दी पूछती हैं तो मुझे लगता है हम उम्र के उस पड़ाव पर हैं कि खुद को भूल गए हैं। गुफ्तगू का केंद्र सिर्फ बच्चे रह गए हैं। नीना मुझसे दो-तीन वर्ष छोटी है। सिक्ता दी लगभग पंद्रह-सोलह साल बड़ी। उम्र के एक-दो और सातवें-आठवें पायदान पर खड़े हम मुसाफिरों के रास्ते और नियति एक ही है।

"चेन्नई में साफ्टवेयर इंजीनियर है। इसी वर्ष तो नौकरी लगी है उसकी बड़ी कंपनी में।" नीना की आवाज खुशी से छलकी पड़ रही है, बेटे की कामयाबी पर।

"पति तो जॉब में ही हैं न?" सिक्ता दी फिर पूछती हैं।

"हां, अभी पांच साल हैं उनके रिटायरमेंट में।"

"तुम तो नौकरी नहीं करतीं न?"

"नहीं।"

"तो समय कैसे कटता है तुम्हारा?" सिक्ता दी आश्चर्य से पूछती हैं।

"बस,कट जाता है! घर का इतना सारा काम होता है और फिर किटी पार्टी वगैरह!"

"घर का काम व्यस्त रख पाता है तुम्हें?"

"सीख रही हूं न हारमोनियम। एक टीचर आती हैं दो घंटे के लिए सिखाने।" नीना कहती है।

"हां, यही तो! हारमोनियम क्या शौक के लिए सीख रही हो? नहीं, समय काटने के लिए या फिर तनहाई से भटके मन को एकाग्र करने के लिए! मानो या न मानो, पर सच यही है, नीना! मन की बेचैनियां अपने पड़ाव का रास्ता वैसे ही ढूंढती हैं जैसी नदी की धारा सागर का। जब वे सागर में मिल जाती हैं, उनकी तड़प समाप्त हो जाती है। ठीक वैसे ही मन की भटकन लक्ष्य पाने के बाद शांत हो जाती है।" सिक्ता दी कहती हैं फिर अहिस्ता से कहती हैं—"घर का काम कहां व्यस्त रख पाता है मन को, सिर्फ तन व्यस्त होता है!" जैसे खुद से कह रही हों।

मैं चौंक जाती हूं। कुछ दिनों से मुझे भी कुछ ऐसा ही महसूस हो रहा है, जब से सिद्धार्थ की शादी से मुक्त हुई हूं। सुदर्शन और सिद्धार्थ दोनों ऊंचे ओहदे पर महानगरों में आबाद हैं। तो क्या कर्त्तव्य और जिम्मेदारी से मुक्ति के साथ जीने की ललक भी खत्म हो जाती है इंसान की? बहुत पहले एक मित्र ने कहा था—'अगर बच्चा नहीं हो तो इंसान में संघर्ष करने की क्षमता नहीं रह जाती। औलाद की जिम्मेदारी, उसके भविष्य की चिंता इंसान को जागरूक बनाती है वरना कुछ कदम चलकर ही वह पस्त हो जाए कि किसके लिए कमाना और अर्जित करना है या किसके लिए जीना है? औलाद की जरूरतें बोमार मां-बाप को भी उठाकर बैठा देती हैं।'

शाम रात के लबादे में छुपने को आतुर है। स्लेटी मायल सुर्ख आसमान के किनारे बहुत नीचे ढलान पर लुढ़कता सूरज बुझते दीये की भांति जोर लगाकर भक् कर रहा है। परिंदे घोंसलों की जानिब लौटने लगे हैं। पूरा माहौल उनकी चहकार से गूंज उठा है। सब अपनी-अपनी बोली में चीं-चीं-चूं-चूं कर रहे हैं। चारदीवारी के पास खड़े, शीशम, यूक्लिप्टस, साखू, अमलतास और गुलमोहर के पेड़ों पर वे चक्कर लगा रहे हैं—शोर मचाते हुए। उनकी बोली से अनजान, पार्क में बैठे लोग, जिन्हें शायद घर जाने की कोई जल्दी नहीं है, निश्चित और निर्लिप्त नजर आ रहे हैं। ऐसा ही होता है जब हम क्या, किसी इंसानी भाषा से भी अनजान होते हैं। इसका अनुभव हाल ही में दक्षिण भारत की यात्रा के दौरान हुआ है मुझे। कलकत्ता से कन्याकुमारी तक का लंबा सफर। अधिकतर यात्री दक्षिण भारतीय ही थे। डिब्बे में हम ऐसे बैठे थे जैसे इन परिंदों के बीच यहां बैठे इंसान। जितने हम उत्तर भारतीय थे, एक-दूसरे को कह रहे थे, सुन रहे थे लेकिन दक्षिण भारतीयों को हम सिर्फ सुन रहे थे, समझ नहीं रहे थे और न ही हमखयाल हो रहे थे। उस वक्त महसूस हुआ था कि हम सिर्फ दक्षिण भारत भ्रमण पर जा रहे हैं। इस तरह तो हम वहां की संस्कृति को जानने-समझने से अछूते ही रह जाएंगे। और ऐसा हो भी रहा था। हम किसी अजनबी पेड़, नदी, पंछी या जगह दिखाकर उनसे उन सबके विषय में जानना चाहते, वे नहीं में सर हिला देते। कोई अंग्रेजी का जानकार होता तो कुछ बता देता। उस वक्त बहुत क्षोभ उपजता मन में कि क्या जरूरी है अपने ही देश को जानने के लिए पराई भाषा का सहारा लेना!

"अरे सीमी, एक बात तो पूछना ही भूल गई तुझसे! क्या तू अपने बेटे के पास जा रही है?" अचानक नीना पूछती है।

"वह तो जाती ही रहती हूं बराबर।" मैं कहती हूं। मुझे ताज्जुब होता है, इसमें नीना के चौंकने वाली कौन-सी बात है।

"नहीं रे, हमेशा के लिए!"

"हमेशा के लिए, ये किसने कहा तुमसे?" मैं चौंककर पूछती हूं।

"श्यामा कह रही थी, परसों ही तो।" नीना कहती है तो मैं हंस पड़ती हूं।

पर हंसी में वह खनक नहीं उभरती। फिर उससे कहती हूं—"हमेशा के लिए कहीं भी रहना, क्या इतना आसान है इस उम्र में? उसे लगा होगा अब मैं कर्त्तव्यमुक्त हो गई हूं। अब सिर्फ खाना, सोना और मौत की आगमन की प्रतीक्षा करना ही रह गया है।"

"तो आप लोगों की महफिल यहां जमी है?" आवाज पर एक साथ सभी की नजरें उठती हैं ऊपर।

पृष्ठ 24 पर जारी

मैं और मेरा यथास्थितिवाद

यथास्थिति के विरुद्ध लिखते और बोलते-बोलते मैं खुद ही पुराना पड़ गया हूं। चाहता भी हूं कि स्थितियां बदलें। एक जैसी व्यवस्था तो हमेशा कायम नहीं रहनी चाहिए। लेकिन जरा-सी भी रद्दो-बदल देखते ही मैं भन्ना उठता हूं। **—से. रा. यात्री**

मेरे स्वभाव में फालतू की धमाचौकड़ी मचाना नहीं है। जब दो कमरों का सस्ते किराए का सरकारी क्वार्टर मिल ही गया तो फिर निजी मकान बनवाने में क्या तुक? पढ़ाई के दौरान गणित काले कोस लगता था पर इधर किफायतारी की समझ एकाएक बढ़ गई लगती है...जितना किराया-भाड़ा क्वार्टर का पूरे साल में दूंगा, अपना मकान बनवाने लगूं तो उससे कहीं अधिक हाउस टैक्स वगैरह भरना पड़ जाएगा। इसके अलावा मकान बनवाने की पूरी प्रक्रिया मेरे लिए घोर त्रासद है। सीमेंट, रोड़ी, बदरपुर, ईंट वगैरह इधर से उधर बिखरे हुए देखना मुझे घोर उबाऊ लगता है। ऊपर से राज-मिस्त्री के नित नए फरमान कि आज लकड़ी चाहिए, आज लोहा, आज बांस-बल्ली। यह सब मेरी मानसिक स्थिरता को हिलाकर रख देता है।

बना-बनाया मकान चाहे जितना भी छोटा हो, मुझे सुविधापूर्ण लगता है। अगर कभी मकान बनवाने की बात चल भी पड़ती है तो मुझे सामने मौत खड़ी दिखाई देती है। आज दीवारों की चिनाई हो रही है, कल लैंटर पड़ेगा, परसों फर्शों की घिसाई होगी। किवाड़ों-खिड़कियों में लकड़ी सागौन की लगे या शीशम की— यह एक अपरिहार्य सिरदर्द है— जिससे बचाव की कहीं कोई सूरत नहीं है। फिर कभी यह खत्म है, अब वह चाहिए! महीनों तक इसी तरह की जानलेवा मुसीबतें सिर पर सवार रहती हैं। इधर मेरे बोदेपन की मिसाल मिलना कठिन है—वह क्या कि मेरे रोजमर्रा आने-जाने के रास्ते पर किसी मित्र या परिचित का मकान बनता नजर आ जाए तो मैं उधर से निकलना ही बंद कर देता हूं क्योंकि यह हो नहीं सकता कि वह मुझे अपने सपनों के आशियाने की ताबीर का पूरा कच्चा चिट्ठा न सुनाए और उसे मेरी आंखों में रचा-बसा न दे।

कभी-कभी मैं इस सारी स्थिति पर गौर करता हूं तो अपनी फितरत पर चकित रह जाता हूं।

मुझे चीजों को बनते हुए देखने के प्रति कोई उत्सुकता ही नहीं है। एक पूरी बनी-बनाई मुकम्मिल वस्तु, मकान अथवा आदमी मेरी दृष्टि अपनी ओर खींचते हैं किंतु उनके निर्माण की प्रक्रिया का साक्षी होना मेरे वश की बात नहीं है। कहानी यह बनी कि निर्माण को लंबे समय में किस्तवार देखना मुझे नीरस और व्यर्थ लगता है। क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि मुझमें निर्माण की कल्पना का घोर अभाव है? यानी आधी-चौथाई निर्मिति देखकर मैं पूरी वस्तु का कभी अनुमान ही नहीं लगा सकता। मेरी अड़ंगेबाजी के चलते मेरे घर की पुताई बरसों तक स्थगित होती चली जाती है। किसी छत या दीवार का पलस्तर उखड़ जाए तो मेरी उपस्थिति में उसकी मरम्मत नहीं हो सकती। स्वयं तो इसके लिए कोई भाग-दौड़ कर ही नहीं सकता—कोई दूसरा करे तो उसके प्रति मेरा रवैया इतना ठंडा होता है कि वह भी कुछ करने की उत्साहित नहीं हो पाता।

पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं जिस रूप में एक बार जहां पड़ गईं— पड़ गईं। उन्हें मैं कभी करीने से संभालकर नहीं रखता। मेरे कमरे में बिखरे पड़े अखबारों किताबों और दीगर चीजों को यदि कभी कोई सदाशयतावश करीने से लगाना भी चाहता है तो मैं मुश्किल में पड़ जाता हूं। मेरे लेखे अव्यवस्था में भी एक अदृश्य व्यवस्था होती है—कि मैं वांछित वस्तु को तुरंत ढूंढ निकालता हूं— जबकि दूसरों की तरतीब से लगाई मेरी सारी चीजें भूलभुलैया में भटकने लगती हैं। दरअसल व्यवस्था के नाम पर मेरी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और दूसरी चीजों के साथ मनमानी करने का अवसर मेरे परिवारजनों को तब मिल पाता है जब मैं कुछ दिनों के लिए घर और नगर से बाहर चला जाता हूं। इसी दौरान लगे हाथों पुताई वगैरह का काम भी निपटा लिया जाता है।

अखबारों और छपी हुई किसी भी सामग्री के प्रति मेरा लगाव मोहांध होने की सीमा तक है। मित्रों के पत्र और समाचार-पत्र मैं कभी हाथ से नहीं जाने देता। पर दुर्भाग्य यह है कि न समाचार-पत्र सुरक्षित रह पाते हैं न मित्रों परिचितों, पाठकों के पत्र-क्योंकि जब मेरा छोटा बेटा घर-भर में कागज ही कागज बिखरे देखता है तो उन्हें एक बोरे में भरकर खुली छत पर एक कोने में फेंक आता है। वर्षा ऋतु जहां औरों के लिए मनभावन सिद्ध होती है वहीं उस बोरे में भरी सामग्री के लिए यमराज साबित होती है। परिणाम— सारी मुद्रित और हस्तलिखित भाव-भावनाएं लुगदी के रूप में बदल जाती हैं।

पुराने वक्तों में घर की सुघर गृहिणियां और बड़ी-बूढ़ियां एकदम कंडम-सी लगने वाली चीजों को इस दृष्टि से संभालकर रखती थीं कि वे वक्त जरूरत कभी न कभी काम आएंगी, पर वह कोई विरल अवसर ही होता था जब उनमें से कोई वस्तु वास्तव में उपयोगी सिद्ध होती थी। मेरी भी कमोबेश यही स्थिति है। पन्ना-पन्ना बिखरी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं को दशकों तक यह सोचकर सहेजता चला आ रहा हूं कि इन्हें एक बार फिर कभी जरूर पढ़ूंगा। पर इतनी नई-नई किताबें, पत्र-पत्रिकाएं और पठनीय सामग्री आए दिन सामने आती रहती हैं कि उसी से आंखें हटाने की फुर्सत नहीं मिलती। हितू मित्र कई बार ढूह की शक्ल में पड़ी किताबों को बैठने की कुर्सियों से इधर-उधर हटाकर बैठने का जुगाड़ करते हुए सलाह देते हैं— 'भाई साहब, किसी लायब्रेरी-वायब्रेरी को देकर इनके मोह से पीछा छुड़ाओ! किसी को नहीं दोगे तो इन्हें दीमक चाट जाएंगी!' पर वाह रे मैं! किसी को पुस्तक देने से पहले ही उसे वापस करने का तकाजा करने लगता हूं।

कोई दसेक वर्ष पहले एक दोस्त लंदन से मेरे लिए बतौर तोहफा एक एयरटाइट लंबा-चौड़ा संदूक लेकर आए थे। पत्नी ने सोचा—लाओ, जाड़े के कपड़े, जो यों ही इधर-उधर मारे फिरते हैं— उस नायाब संदूक में सहेजकर रख लिए जाएं। संयोग से वह जाड़े का ही मौसम था तो संदूक में बजाय कपड़े लत्तों के, कुछ नायाब पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें भर दी गईं। कोई भी अवसर फिर उन किताबों वगैरह की सुध लेने का नहीं आया। एक बार उस बक्स को उसके निर्धारित स्थल से कहीं दूसरी जगह रखने के लिए जो उठाया गया तो पता चला कि संदूक की तली जंग खाकर उससे अलग हो गई है। सारी किताबें और पत्रिकाएं फर्श पर बिखर गईं। उन गरीबों की दुर्दशा का अब आपसे क्या

से. रा. यात्री जाने-माने कथाकार हैं।

बयान करूं! उनकी दशा कब्रिस्तान में सोए पड़े मुर्दों से भी गई-बीती हो चली थी। सारी जिल्दें फफूंद-आलूदा हो चुकी थीं। जाहिर है, उन्हें रद्दी खरीदने वाला कबाड़ी मुफ्त भी ले जाने को तैयार नहीं हुआ।

पिछले वर्ष मैं एक सेमिनार में बंगलौर गया था। मुझे लौटने में दस-बारह दिन लगने वाले थे। पत्नी और बच्चों ने मेरे घर वापस लौटने से पहले ही अपने भगीरथ प्रयास से एक कमरा खड़ा करवा लिया। छत तो डल ही चुकी थी; बस, दीवारों पर थोड़ा पलस्तर का काम बाकी था। मैंने घर और बाहर जो रेत-सीमेंट आदि पड़े देखा तो बौखला उठा। मैंने घर वालों के इस हनुमानी पराक्रम की रत्ती-भर भी प्रशंसा नहीं की। यह तक जानने की जरूरत महसूस नहीं की कि उन्होंने इस निर्माण के लिए रुपये-पैसे की व्यवस्था कहां से और कैसे की! यही नहीं, इतना बड़ा काम उन्होंने पंद्रह दिन से पहले ही संपन्न करा डाला, इसके लिए प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं कहा, उल्टे इस बात पर झगड़ने लगा कि इस रेत-सीमेंट की किरकिराहट के चलते मैं घर में कैसे रहूंगा?

वैसे तो परिवर्तन की बात मेरा तकिया कलाम है। पंत जी की कविता 'परिवर्तन' में 'अहे परिवर्तन-काल विवर्त्तन' की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं थकता। यथास्थिति के विरुद्ध लिखते और जोशीले भाषण देते-देते मैं खुद ही पुराना पड़ गया हूं। चाहता भी हूं कि स्थितियां बदलें। जिंदगी इतनी घटिया और अझेल न रहे। कुछ बेहतर हो। एक जैसी व्यवस्था तो हमेशा कायम नहीं रहनी चाहिए। लेकिन अपने घर में जरा-सी भी रद्दो-बदल देखते ही मैं भन्ना उठता हूं।

इस मुद्दे पर मैंने घंटों सोच-विचार किया है। कुछ भी साफ समझ में नहीं आता। मैं स्वयं से पूछता हूं—'क्या तू परिवर्तन का विरोधी है?' पर कभी 'हां' में उत्तर नहीं मिलता। फिर क्या कारण है कि बाहर मैं परिवर्तन चाहता हूं और भीतर यथास्थितिवाद! बहुत सिर मारने पर बस इतना ही समझ पाता हूं कि मैं परिवर्तन का उतना विरोधी नहीं हूं जितना कि उसकी मंथर गति का। मैं सोने जाऊं और जागने पर मुझे दुनिया अपनी आकांक्षा के अनुरूप बदली हुई मिले तो शायद मैं पुलकित होकर नाचने लगूंगा। पर दुनिया ऐसे पलक झपकते कब बदली है? परिवर्तन तो एक अलक्ष्य प्रक्रिया है। आंखें स्थिर करके भी देखते रहो तो भी क्या एक पौधे के क्षण-अनुक्षण का विकास किसी की नजर में आ पाता है?

चूंकि परिवर्तन लंबे समय में होता है इसीलिए मेरे भीतर कोई रोमांच पैदा नहीं करता। बदल डालने की प्रक्रिया में हम स्वयं शामिल नहीं हैं इसीलिए उसके लिए अपेक्षित धीरज भी हममें कहां है? जो धीमी गति से बदलने वाले स्वरूप हैं, उन्हें हम कहां चीन्ह पाते हैं? जो रोज-ब-रोज आइने में अपना चेहरा देखते हैं उन्हें अपने स्वरूप के बदलते चले जाने का भान कब हो पाता है? पर बरसों बाद किसी परिचित या अलबम में अपनी ही पुरानी छवि देखकर पल-भर में ही पता चल जाता है कि अब तक गंगा में बेपनाह पानी बह चुका है। यानी 'वह' वह नहीं रहा, 'मैं' मैं नहीं रहा। इसे यों भी कहा जा सकता है— आइना कहे मुझे अजनबी।

यह तो शायद आप भी मानते होंगे कि आप, मैं और दूसरे बहुत-से लोग इस दुनिया में ऐसे हैं कि जो शांति की कल्पना इस रूप में करते हैं कि चलते-चलते कोई ऐसा सिंहद्वार सामने आ जाएगा कि उसमें प्रवेश करते ही बाहर-भीतर सब कुछ बदल जाएगा। वहां सारा कुछ खुशगवार और वांछनीय ही होगा। शायद इसी को 'ओवरनाइट रिव्योलशन' कहा जाता है। हमारे भीतर का स्वप्न द्रष्टा परिवर्तन की लंबी राह चलने से कन्नी काटता है। इसी कारण मैं और आप जरा-जीर्ण से अपना पल्ला नहीं छुड़ा पाते और यही कहकर रह जाते हैं—*द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!* ❑

संपर्क : एफ.ई.7, नया कविनगर, गाजियाबाद-201002

डेड वैली

पृष्ठ 22 से आगे

पास ही चंदन सिंह खड़े हैं— जाने कब से। रिटायर्ड इंजीनियर चंदन सिंह यहां अकेले ही रहते हैं। पत्नी का स्वर्गवास हो चुका है और बेटा बंगलौर में रहता है— परिवार के साथ।

"अरे आप, कब आए बंगलौर से?" सिक्ता दी पूछती हैं।

"कभी का आ गया था। चार ही दिन तो रहा वहां।"

"क्यों भई, वहां मन नहीं लगता? बेटा-बहू, पोता-पोती सभी तो हैं वहां।"

अभी चंदन सिंह कुछ बोलते, नीना बीच में ही बोलती है— "इन्हें तो अकेले रहना अच्छा लगता है और हंस पड़ती है।

"अकेले रहने का किसका मन करता है, मैडम? यहां से ज्यादा अकेलापन तो वहां महसूस होता है मुझे। सुबह के आफिस गए बेटा-बहू रात सात-आठ बजे लौटते हैं थके-मांदे। हाल-चाल पूछते हैं। चार निवाले मुंह में डालते हैं फिर घुस जाते हैं अपने कमरे में। बच्चों की अपनी दिनचर्या है। स्कूल से आना, खाना, होमवर्क करना, फिर ट्यूशन पढ़ना, टी.वी. देखना और सो जाना। फिर उठते हैं सात-आठ बजे! सुबह वही अफरातफरी का माहौल। इतनी देर में तो मैं यहां दस मित्रों से मिल-जुल लेता हूं। टहल लेता हूं। सच पूछो तो पूरे परिवेश से कटे एक कमरे में बैठे सिर्फ टी.वी. देखते रहना...मुझे जड़ कर देता है। वह सब तो मैं यहां भी करता ही हूं। अब इस उम्र में अपनी जमीन, अपने परिवेश और आबोहवा से कटकर कहीं भी रहना...संभव नहीं लगता।" कहते हैं चंदन सिंह। उनकी आवाज में दर्द उभर आया है।

"बिल्कुल यही बात सीमी भी कहती है।" फौरन नीना कहती है।

नीना अभी उस अनुभव से नहीं गुजरी है जिससे हम लोगों का साबका पड़ चुका है।

"तो क्या गलत कहती हूं! हम अपनी तरह से जीने के आदी हो चुके हैं। बच्चे अपनी तरह से जी रहे हैं। उनकी अपनी दुनिया है, अपना परिवेश, अपना दायरा है, अपनी दिनचर्याएं हैं। वहां हम अपनी तरह से जीना चाहेंगे। उनकी दिनचर्या में व्यवधान पैदा होगा। तनाव बढ़ेगा। मैं तो औरत हूं, एडजस्ट कर लूंगी। पति एडजस्ट नहीं कर पाएंगे। मैं जानती हूं। तमाम उम्र अपनी कंपनी, अपने माहौल से अलग होकर नहीं रह पाएंगे वे। इसलिए अभी न हम लोग उनके पास रहने की सोच रहे हैं न ही किसी को मजबूर करेंगे यहां आने के लिए। जब वैसा वक्त आएगा कि उनकी जरूरत पड़ेगी, उस वक्त वे जहां चाहेंगे, ले जाएंगे। जैसे चाहेंगे, रखेंगे...।" मैं कहती हूं।

सिक्ता दी अजीब-सी नजरों से देखती हैं मेरी तरफ और तल्ख आवाज में कहती हैं—"होरे, अभी नहीं मालूम पड़ रहा कुछ, इसलिए दर्शन बघार रही है। जब बूढ़ी हो जाएगी न तब पता चलेगा तुझे तनहा रहने का दर्द क्या होता है!" उनके शब्दों में पीड़ा घुल आई है।

शाम रात की बांहों में दुबक गई है—हर तरफ उदासी फैलाकर.... ❑

संपर्क : कोट बाजार सीतामढ़ी-843302

चार गीत : संजय शुक्ल

जगती आंखों का सपना

उतरे पूनम आंगन घर के
आए नहीं अमा फिर-फिर के
जगती आंखों एक प्रवासी
यह सपना देखा करता है !

निधि भविष्य की बचा, पिता ने
वर्तमान निधिहीन बिताया
किया खंडहर खुद को पहले
तब यह छोटा घर बनवाया
यह घर एक महल बन जाए
बिरछ झुका जो, वह तन जाए
जगती आंखों एक प्रवासी
यह सपना देखा करता है !

बांट दिया पूरा का पूरा
मां ने खुद को पूरे घर में
उठें न आंगन में दीवारें
जीती है निशिदिन इस डर में
महल रहे या रहे मढ़ैया
दूर न जाए छुटका भैया
जगती आंखों एक प्रवासी
यह सपना देखा करता है !

व्रत रखने के बहुत बहाने
ढूंढे कुशल मनाते मन ने
चाह दबाना सीख लिया अब
उखड़ी आंसों के जीवन ने
पूरा हो जोगन का अब तप
साधा जिसने मेरा यह जप
जगती आंखों एक प्रवासी
यह सपना देखा करता है!

सब वनैली मान्यताएं

भोर की पहली किरण से
दिवस के अंतिम चरण तक
बिना आवेदन किए ही–
अनगिनत प्रतियोगिताएं !

टांगकर संवेदनाएं
कामना की अलगनी पर
स्याह सड़कों पर उमड़ती
भीड़ निष्ठुर पांव सर धर
तिमिर डूबी वीथियों से
जगमगाते राजपथ तक
दूर तक फैली कंटीली
अपरिमित संकीर्णताएं !

बह न पाए स्वेद अपना
दांव दूजे के लहू पर
स्वस्थ स्पर्धा भूल बैठे
है भरोसा पटखनी पर
मारकर टंगड़ी गिरा दें
या पकड़ गर्दन झुका दें
घटं भित्वा पटं छित्वा
चाहते हैं सफलताएं !

सांप-सीढ़ी खेल जैसा
बन गया है आज जीवन
तोड़कर नाता धरा से
भज रहे आकाश की धुन
बहुत अंधी दौड़ है यह
वनचरों-सी होड़ है यह
मनुजता पर छा गई हैं–
सब वनैली मान्यताएं !

अनागत जलता है

आगत का यह दृश्य भयावह
सोते-जगते छलता है
महानाश की लपटों में
खामोश अनागत जलता है !

घिरा हुआ नभमंडल
पुच्छल तारों से
मौन खड़े सप्तर्षि
अवश लाचारों-से
ध्रुवतारों का धर्म सहमकर
ढूंढे अपनी स्थिरता है !

गंधहीन संकर सुमनों की
क्यारी में
गंधक है, मकरंद नहीं
फुलवारी में
संबंधों की विमल त्रिवेणी
खोज रही निज शुचिता है !

हंस उड़ रहे
कागों की अगवानी में
खलनायक ही
नायक बने कहानी में
तुलसी बिरवा खड़ा उपेक्षित
कीकर का कुल पुजता है !

प्रभुता का अनुवाद

एक दिवस लघुता ने बांचा
प्रभुता का अनुवाद !

घर न लगा दड़बे-सा उस दिन
घिच-पिच लगी न भीड़
नहीं उड़ाई गौरैया, जो
बना रही थी नीड़
खेती-बाड़ी की, गमलों में
देकर पानी खाद !

मैं ही वादी, प्रतिवादी भी
मुंसिफ और वकील
उठी अदालत बिन बैठे ही
हुई न एक दलील
साथ रहा मैं अपने, लेकिन
हुआ न कुछ प्रतिवाद !

जिया अभी तक कितना, कैसा
भुला दिया अनुपात
भोला रहना भला हमें, करना
क्या हो निष्णात
अखबारों की तहें न खोलीं
जिनमें भरी मवाद!

संपर्क : 23 पंचशील पार्क, साहिबाबाद, गाजियाबाद-201005

चार कविताएं : **पाल भसीन**

खुशबू की सौगात

रूप और सौंदर्य का, तन पर मचा धमाल
फिर भी लची न रंच भर, फूलों वाली डाल!

मेरी पूरी चेतना पर तेरा अधिकार—
स्वयंसिद्ध है, हो गया, मुझको तुझसे प्यार!

प्राण स्वयं तू, तू दवा भी है, तू ही पीर
गहराई तक जो बिंधा, खुद तू ही वह तीर!

मुझे नेह की आग में झोंक, दिया वनवास
संग-संग खुद बहती फिरी, बनी तीव्र-गति श्वास!

सुमधुर-सुमदिर गंध का, है तू रूपाकार
बची-खुची हर सांस को, मिला पुष्ट आधार!

तुझे प्राण के पास पा, मन हो गया मुरीद
सभी चक्र खुद बिंध गए, रात-दिवस अब ईद!

ज्यों निदाघ की छांह में, हो जाड़े की धूप
निशि-दिन ही देखा किया, मैं सुरूप अपरूप!

जब से तुझसे हो गई अंतरंग पहचान
बिना वजह थिरका करे, अधरों पर मुस्कान!

तू गहरी संवेदना, तू गहरा अहसास—
बनकर मुझमें यों जगी, जगी सृजन की प्यास!

गुन-गुनकर गाता फिरा, बात वही दिन-रात
जिसमें तेरे नेह की, खुशबू की सौगात!

मुझको तनिक सहेज, मां!

और न भटकूं देश में, और न जोहूं काल
वह न मिला तो क्या हुआ, क्यों हो मुझे मलाल?

काटे से कटते कहां, कभी मोह के फंद
यों, रच-रच रखते रहो, तुम विराग के छंद!

रही न दैहिक चेतना, और न हुए विदेह
रहे न घर के—घाट के, छूटा नेह न गेह!

जो कुछ भी इस पार है, या जो कुछ उस पार
तेरे ही अपरूप का सीमित-सा विस्तार!

तू ही तो मेरी रही, एकमात्र अवलंब
मुझको तनिक सहेज, मां ! फैला बाहु प्रलंब!

क्यों न जिऊं भरपूर?

पर ही कट-कटकर गिरे, अब कैसी परवाज
महाशून्य में खो गई, चीख बनी आवाज!

अरी वेदना! चेतना होकर खुल-खिल-खोल
बोल जरा, क्यों चित्त है अब तक डावांडोल !

नीराजन अपरूप का, धुंधुआता अहसास
वह न मिला तो क्या? मिली मिल पाने की आस!

पनघट तेरे बाप की, बनी रहे जागीर
प्यासा हूं मैं, ठीक है, पर कब हुआ अधीर !

नियराया तो क्या हुआ, यदि आखिरी पड़ाव
ताल ठोंकते दीखते, अब तक अनगिन चाव!

ये अंतिम दो-चार पल, क्या न जिऊं भरपूर
सुनो जिंदगी, मैं अभी, नहीं थकन से चूर !

आंखें सदा सनीर

सांस-सांस सिसका करे, रहें तरसते नैन
पल-भर को फिर दीख तू, पाए मन कुछ चैन!

कल थोड़ा हंस-बोलकर, आज गई वह भूल
क्यों फिर मन के आइने पर वैसी ही धूल!

काश, हुआ होता हिया, स्नेह-परस से सिक्त
पर अभिशापित है, रहा ज्यों का त्यों ही रिक्त!

तेरी सुधि सिरजा करे, पल-पल नूतन पीर
ठौर-ठौर ठिठकीं, रहीं आंखें सदा सनीर!

शिलीभूत जड़ता गली, बही नयन की राह
लहर-लहर लहरा रही, पिया-मिलन की चाह!

पूरी होती दीखती, कब नन्ही-सी साध
तुझे चाहकर हो गया, ज्यों कोई अपराध!

गहकर मेरी बांह को, छोड़ न यों, हमराह
पहली ही क्या आखिरी भी है तू ही चाह!

संपर्क : 58 चित्र कुटीर कलाग्राम, आंबेघर, ता. पेण (रायगड) (महाराष्ट्र) पिन-402107

तीन कविताएं : मनोज कुमार झा

बाढ़ के दिनों में ...

क्या तुम्हें शर्म नहीं आती!
क्या तुमने दूध के लिए
रोते बच्चों को देखा है?
अपनी मां से पूछ लो
नहीं, तुमसे छूट गई होगी वह भाषा
जिसमें मांओं से बात की जाती है
क्या तुमने तेजाब की शीशी को
बच्चों की पहुंच से दूर किया है कभी?
अपनी पत्नी से पूछ लो
नहीं, तुम्हारे पास वह वीणा कहां
जिस पर बच्चों के लिए बढ़ रहे
स्त्रियों के हाथ बजते हैं !

तुमने परमाणु बनाया
चांद को छुआ
वह दस दिन का बच्चा डूब रहा है पानी में
वह कागज का टुकड़ा नहीं
जिसे तुम फेंक देते हो बिना दस्तखत के
शिशु-शरीर वह
बसती है जिसमें सभ्यता की सुगंध
तुम इस दस दिन के बच्चे को
नहीं बचा सकते
तुम्हें शर्म नहीं आती!

तुम्हें नींद आती है!
अब तो मुझे शर्म है अपने पुरखों पर
कि उन्होंने नींद तक राहें बनाईं
मुझे शर्म है अपनी नींद पर भी
कि जिससे तुम्हारा रिश्ता, उससे मेरा भी !

विज्ञापन-सुंदरियों से

इसलिए तो नहीं बचाकर रखा यह क्षण
कि खरीद ले इन्हें कारपोरेट जगत चुपके से
देखो तो, अपनी वस्तुओं की खातिर
तुम्हारी सुंदरता सोखकर
रहने दिया तुम्हें मात्र उत्तेजक
और टांग दिया इन विचारशून्य क्षणों में !

अच्छा नहीं लगता
थरथराते कदमों से गुजरना तुम्हारा
दीपक की लौ की तरह
हवा से डरते हुए
निऑन लाइटों की चपलता
भर तो गई पैरों में तुम्हारे
अब भी कोई और ही
भर रहा है इसमें विद्युत-तरंग
कोई और है
जो तुम्हारी छवि को जोड़ता-तोड़ता है
डिजिटल इकाइयों में
बनाने के लिए चमकदार !

वह देखो, लड़की रोटी बनाना सीख रही है
कैसी फुलाई है पृथ्वी की तरह गोल रोटी
एक दिन रोटी उसे थका डालेगी
और वह उदास हो जाएगी
नहीं दिख रही तो
हटाओ अपनी आंखों की चमकीली पट्टी
और हर सको तो हरो
उसके भविष्य की उदासी !

मुक्त तो हुई ऊखल से, मूसल से
पर मुक्त होओ
इस विकराल ईश्वर से भी
घर से छूटकर
बाजार पर मत लटको
तुम मुक्त होओ
तो मुक्त होंगी
हमारी भी बहनें और बेटियां !

साग-पात के चोर

इन्हें पता है कि
किसके आंगन में खिले हैं गेंदा
जी खोलकर
और किसके बारी के नींबू होते हैं
महकीले और रसदास
मटर के पौधों की गोद हरी-भरी है छीमियों से
किसके खेत में
और किस खेत की मूली
कच्चा चबाने में भी लगती है मजेदार
गांव में कहां है वह पौधा हरी मिर्च का
जिसकी तासीर है सबसे तीखी
और किसी पेड़ पर लगे टिकोरे
मन को कर देते हैं महमह
ये पांव दाबकर तोड़ लाते हैं गेंदा
और चढ़ाते हैं देव-प्रतिमाओं पर
क्षमा-याचना सहित
या दे देते हैं बच्चों को खेलने के लिए
और अंदाजते हैं उनके चेहरों की खुशी
सफाई से तोड़ लाते हैं एकाध नींबू
मिलती है घर में सभी को एक-एक फांक
ओस सूखने से पहले पहुंच जाते हैं खेत में
नजरों से टटोलते चार सू तोड़ते हैं छीमियां
दो-चार चखते हैं
शेष बांधकर गमछे में
ले आते हैं घर वालों के लिए
ये न हों तो घर-बाहर के कितने
चख न पाएं मीठे टिकोरे
और कितनों की थाली वंचित ही रह जाए
हरी मिर्च की महक से
गांव की वर्णमाला के समर्थ जानकार ये
बांटते हैं बिना-मांगी सलाह
फूल-पत्तियां संवारने के लिए
अक्सरहां ये उन्हीं में से
जिनकी चादर पांव से छोटी
और अमूमन ये होते हैं खिलाफ
करने के कुछ ऐसा-वैसा
इन्हें समतल करने के लिए
चार सांसों की इनकी चोरियां
आज और अभी के लिए
कल के लिए, जहां से शुरू होता है प्रभात
उससे पहले ठहर जाती हैं ये चोरियां!

संपर्क : द्वारा सुरेश मिश्र, दिवानी तकिया, दरभंगा-846004 (बिहार)

चार गीत : जयकृष्ण राय तुषार

वासंती पन्नों पर

धूप खिलेगी हंसकर फूलों-सी
कोहरा छंट जाएगा
जल पंछी डूबकर नहाएंगे
मौसम फिर बजरे पर गाएगा !

हाथों में हाथ लिए, मन में
विश्वास लिए चलना है
जहां-जहां पर उजास गायब है
बनकर बस दीप सगुन जलना है

फिर हममें से कोई सूरज बन
नई किरन, नई सुबह लाएगा !

जीवन के वासंती पन्नों पर
एक कलम चुपके से डोलेगी
जो कुछ भी अनकहा रहा अब तक
मन की उन परतों को खोलेगी

गलबहियों के दिन
फिर याद करो
मन को एहसास गुदगुदाएगा !

टहनी पर एक ही गुलाब खिला
इससे तुम आरती उतारना
एक फूल मुझको भी मान, प्रिये!
जूड़े में गूंथकर संवारना

जब भी ये फूल हवा छू लेगी
सारा आकाश महक जाएगा !

मोबाइल गेमों में

फूल खिले बाग हैं
तितलियां हैं
बच्चों की कलम पर
उंगलियां हैं !

पीठ लदे बस्तों में
दिन सारा बीता
लैपटाप में जंगल
देखती सुनीता

शीशे के ताल में
मछलियां हैं !

बात-बात पर छोटू
मम्मी से लड़ता
रिश्तों का मतलब भी
समझाना पड़ता

चश्मे के नंबर में
कैद ये पुतलियां हैं !

वासंती भोर कहां
चंदा की रातें
खत्म हुई लोककथा
परियों की बातें

मोबाइल गेमों की कैद में
पसलियां हैं !

देख तुमको

सांझ चूल्हे के धुएं में
लग रहा चेहरा तुम्हारा
ज्यों घिरा हो बादलों में
एक टुकड़ा चांद प्यारा !

रोटियों के शिल्प में है
हीर-रांझा की कहानी
शाम हो या दोपहर हो
हंसी, पीढ़ा और पानी

याद रहता है तुम्हें सब
कि कहां, किसने पुकारा !

एक भौंरा फूल पर बैठा हुआ
तुमको निहारे
और नन्हा दुधमुंहा
उलझी तुम्हारी लट संवारे

दिन गुलाबी और रंगोली
बनाने का इशारा !

मस्जिदों में हों अजानें
मंदिरों में आरती हो
एक घी का दिया चौरे पर
तुम्हीं तो बारती हो

जाग उठता देख तुमको
झील का सोया किनारा !

चिट्ठियां लिखना

फोन पर बातें न करना
चिट्ठियां लिखना
हो गया मुश्किल शहर में
डाकिया दिखना !

चिट्ठियों में
लिखे अक्षर
मुश्किलों में काम आते हैं
हम कभी रखते
किताबों में इन्हें
कभी सीने से लगाते हैं

चिट्ठियां होतीं
सुनहरे वक्त का सपना !

चिट्ठियों से भी
महकते फूल झरते हैं
शब्द होठों की तरह ही
बात करते हैं
हाल सबका पूछतीं
हो गैर या अपना !

चिट्ठियां जब फेंकता है डाकिया
चूड़ियां-सी खनखनाती हैं
तोड़ती हैं कठिन सूनापन
स्वप्न आंखों में सजाती हैं

याद करके इन्हें रोना
या कभी हंसना !

वक्त पर ये चिट्ठियां
हर रंग के चश्मे लगाती हैं
दिल मिले तो ये समंदर
सरहदों के पार जाती हैं

चिट्ठियां हों इंद्रधनुषी
रंग भर इतना !

संपर्क : 63 जी/7, बेली कालोनी, स्टैनली रोड, इलाहाबाद (उ.प्र.)

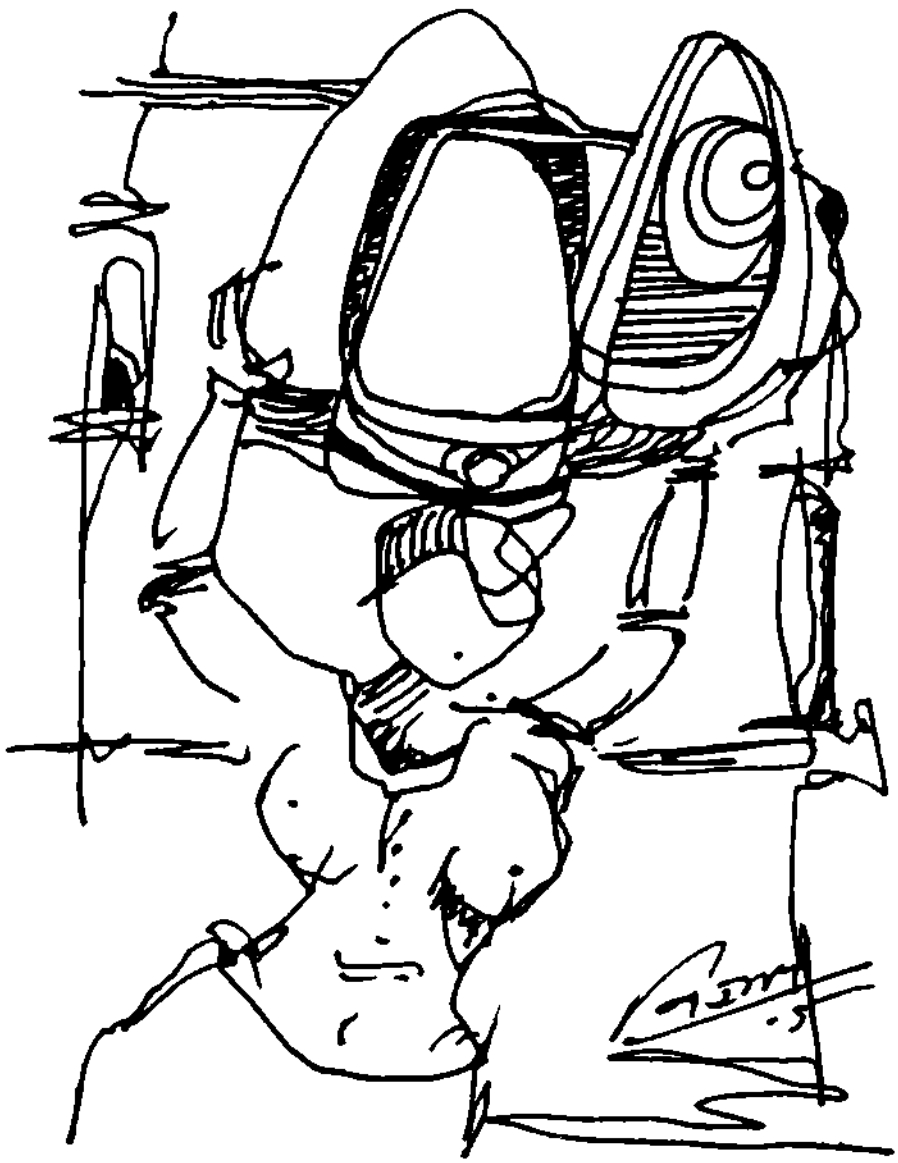
कहानी

हवा

पेद्दिभोट्ला सुब्बरामय्या

तेलुगु से अनुवाद : जे.एल. रेड्डी

रेखांकन : विज्ञानव्रत



समस्त सृष्टि की हवा को किस अदृश्य शक्ति ने अपनी फौलादी मुट्ठी में कस लिया है, यह तो नहीं मालूम। कई दिनों से पत्थर-झुलसाऊ धूप... फिर ऐसी स्तब्धता कि कहीं एक पत्ता तक नहीं हिलता। आकाश में बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा तक नहीं दिखता। सूरज उदित ही भयंकर उत्तप्तता से विकट अट्टहास करते हुए होता है। उसके बाद से उसका उत्पात शुरू हो जाता है। समस्त पृथ्वी को अपनी लपटों से लेकर उसे तपाता-तड़पाता है और अंत में विजय गर्व के साथ पश्चिम के पहाड़ों में उतरकर चला जाता है। लेकिन सूर्य की अनुपस्थिति में भी हवा नहीं होती। देर रात में कभी थोड़ी देर के लिए उसमें थोड़ी-सी हरकत होती है। फिर सवेरा होते-होते जाने कहां गायब हो जाती है, पता नहीं चलता। इतने में सूरज फिर से हुंकारता हुआ पूरब के पहाड़ों के पीछे से रेंगता हुआ ऊपर निकल आता है।

वह मकान बहुत पुराना है। उसकी चारों मंजिलों में लगभग बीस परिवार रहते हैं। मकान मालिक की इन्हीं दिनों मौत हो गई है। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति किस तरीके से बनाई थी, इसकी तरह-तरह की कहानियां लोग बनाते रहते हैं। इन कहानियों की बात छोड़ भी दें तो इतना तो सच है कि पैसा कमाना, खूब अच्छी तरह उसकी हिफाजत करना, जहां उसे सूद पर चढ़ाना है, वहीं चढ़ाना...इसी तरह के कार्यकलाप में उन्होंने अपने जीवन का एक-एक पल गुजार दिया था। मनुष्य योनि में आकर हर आदमी को जिंदगी में कभी-न-कभी पैसे की दिक्कत तो आती ही है। बड़ी सावधानी से वे गरजमंद आदमी की पहचान कर लेते, उस आदमी को पैसे मांगने का मौका देते। मांगने पर थोड़ी ठसक दिखाते। दो-तीन चक्कर उससे लगवाते। गरजमंद आदमी को यह समझ में आ जाने के बाद कि देश का सारा पैसा कहीं गायब हो गया है और पैसे का दिखाई पड़ना तो कोई बड़ी अनहोनी घटना है, तब बहुत मुश्किल से ही पैसे का इंतजाम कर पा रहे हैं— ऐसा जताते हुए, जितना मांगा गया हो, उसके आधे या तिहाई का इंतजाम वे कर देते। पूरे मामले को जिस तरह कसना-ऐंठना होता, उसी तरह सारी कार्रवाइयां निर्बाध पूरी हो जातीं। रुक्का लिखवा लेना, रेहन रखवा लेना, सब फौरन हो जाता। उसके बाद कुछ समय बीतता। आदमी का मुसीबतों में फंसना जितनी आम बात है, मुसीबतों में फंसे आदमी का उबर पाना उतनी ही विरल बात है। उसे बार-बार पैसे की जरूरत

पेद्दिभोट्ला सुब्बरामय्या तेलुगु के जाने-माने कथाकार हैं।

पड़ती रही है। बड़ा सद्भाव दर्शाते हुए वे उसको फिर उधार देते। लेकिन किसी भी हालत में उस आदमी की औकात से ज्यादा पैसा नहीं देते। धीरे-धीरे उस आदमी की चोटी, उसकी मान-मर्यादा और साख-प्रतिष्ठा सब उनकी मुट्ठी में आ जाती। फिर मौका देखकर एक दिन अचानक वे पूछ बैठते– 'मेरा पैसा कहां है!' उसके बाद आम तौर पर जो होता है, वही होता...देनदार का पैसा न दे पाना, थोड़ी मुहलत के लिए चिरौरी करना...वगैरह। तब वे कहते– 'यह बिल्कुल संभव नही है!' और वे किस-किस तरह पैसे की तंगी में फंसे हुए हैं, इसका पूरा ब्योरा दे देते। ऐसे बात करते जिससे ऋणी की समझ में आ जाता कि तत्काल ऋण चुकाने के अलावा कोई चारा नहीं है। अंत में बड़ी सहृदयता और सहानुभूति के साथ वे एक उपाय सुझाते– 'इस उधार और ब्याज के झमेले में क्यों पड़ो तुम? सीधे बेच ही डालो न! कम-से-कम ब्याज से तो छुटकारा मिलेगा!' तब गरज का बावला आदमी 'हां' कर ही देता। फिर कीमत लगाना, उधार काट लेने के बाद बाकी पैसा दे देना, रजिस्ट्री वगैरह सब काम पूरे हो जाते। फिर वह मकान उनके हाथ में आते ही ध्यान से वे उसे जांचते-परखते और कुछ पैसा लगाकर उसे बढ़वाते और उसमें तब्दीलियां करवाते। उसके अनेक हिस्से करके सबको किराए पर चढ़ाते।

इस तरह उनके हाथ आए पांच-छह मकानों में यह भी एक है। बहुत दिनों तक चारपाई पकड़े रहने और रत्ती-रत्ती घुलते रहने के बाद एक दिन वे चल बसे। उनके कोई संतान नहीं थी। एक लड़के को पाल लिया था। लड़का उनके यहां जब आया, तब उसकी उम्र अठारह साल की थी। उनके चारपाई पकड़ने पर वह इलाज के लिए बहुत दौड़-धूप करता दिखाई दिया। वह डाक्टरों के यहां चक्कर लगाता रहा, दवाइयां लाता रहा। रोज थोड़ी देर उनकी चारपाई के पास उदास चेहरा लिए बैठता रहा। उसके चेहरे को देखकर सभी सोचते– 'बेचारा लड़का मनहूस हो रहा है!' उस लड़के में मन में क्या है, यह तो वह परमात्मा ही जानता होगा। बीच-बीच में आंखें खोलकर वृद्ध बेटे की तरफ देखते और कुछ बोलने की कोशिश करते। लेकिन बात बाहर निकलकर नहीं आती थी। एक दिन उन्होंने उसे खूब नजदीक सरक आने का इशारा किया और फिर जिस तिजोरी में जमीन-जायदाद वाले खास-खास कागज रखे थे, उसकी चाबियां उसके हाथ में देकर उस हाथ को देर तक अपने हाथ में लिए पड़े रहे। बेटे ने भी उस ठंडे हाथ से हाथ छुड़ाने की कोशिश नहीं की। कुछ देर बाद वे नींद के कारण या खुमारी के कारण एक तरफ को लुढ़क गए। उसी रात उनकी मौत हो गई। लोगों के देखते उस लड़के ने रोते-रोते चुपचाप साथ वाले कमरे में जाकर दरवाजा बंद कर लिया।

भोर में मकान के सामने इकट्ठे हुए लोगों और कर्मकांडी ब्राह्मणों की आवाजें सुनकर वह कमरे से बाहर निकल आया। उसकी लाल-लाल आंखों और थकान तथा उदासी-भरे चेहरे को देखकर सबने सोचा कि उस बेचारे ने रो-रोकर ही सारी रात गुजार दी होगी। जो हो, रात-भर वह सोया नहीं था, यह बात तो सच है। तिजोरी में रखे कागजों को एक-एक करके पढ़ते हुए, समझते-बूझते हुए और पैसा गिनते हुए वह बैठा था। सवेरा होने पर उसने आवश्यक कार्रवाइयां शुरू करवाईं। जहां सौ रुपये खर्च करने की जरूरत होती, वहां बहुत उदास चेहरा बनाने के बाद यह कहकर सिर्फ पचास ही खर्च करता कि 'पैसा घर में बिल्कुल नहीं है, जो कुछ था, सब लोगों पर है, पिताजी ने कभी किसी को मना नहीं किया, जिसने भी मांगा, उधार दे दिया। इस वक्त इतने से ही काम चलाओ...!' अपने किसी आदमी से सचमुच कुछ रुपये उधार लेकर उसने अपने व्यूह के लिए ताकत भी जुटा ली। जैसे-तैसे उसने अन्य क्रियाएं पूरी कीं।

उसके बाद हर किराएदार से वह मिला और सबसे बड़ी आत्मीयता से बात कर आया। सबने सिर हिलाकर कहा– 'लड़का बड़ा अच्छा है भई!'

कुछ समय बाद ही लोगों ने उसके असली रंग को पहचाना। हर महीने दूसरी तारीख को वह हाजिर हो जाता। पहली तारीख को जो लोग तनख्वाह पाते हैं, उनको– वे चाहे जिस हालत में हों– महीने का किराया चुकाना ही पड़ता।

उस मकान के किन हिस्सों में रहने वाले को पहली तारीख को तनख्वाह मिलती है और किनको सात तारीख को, यह वह अच्छी तरह जानता है। वह यह भी जानता है कि तनख्वाह मिलने के अगले दिन ही पहुंचकर पैसा वसूला नहीं गया तो फिर वे दे नहीं सकेंगे। इसलिए वह घड़ी जैसी नियमितता के साथ जिस मकान के जिस हिस्से में जिस वक्त हाजिर होना होता था, उसी दिन और उसी वक्त हाजिर हो जाता था। उससे शादी की बात छेड़कर दो-तीन सयाने लोग निराश भी हुए हैं।

"मैं अभी शादी नहीं करने वाला हूं।...इस बात के लिए आपको बार-बार आने की जरूरत नहीं है।" उसने साफ-साफ कह दिया था। 'रात में देर से घर लौटता है' जैसी कुछ छोटी-छोटी अफवाहें उसको लेकर हैं। लेकिन ये तो बहुत मामूली बातें हैं!

कमला ने चश्मा उतारकर साफ किया और उसे फिर से लगाकर मुंडेर की टेक लिए खड़ी हो गई और नीचे की तरफ देखने लगी। तीसरी मंजिल का पांचवां हिस्सा है वह। ऊपर से देखो, तो वह पूरा मकान घोड़े की नाल के आकार में विचित्र-सा दिखाई देता है। नीचे की मंजिलों में रहने वाले लोग सवेरे उठने के बाद से काम की हड़बड़ी में इधर-उधर भागते रहते हैं। लेकिन पहली मंजिल के पहले हिस्से में रहने वाला कालेज का छात्र तो आराम से उठकर दरवाजे के पास पूरे आधे घंटे से ब्रश मुंह में रखे बार-बार ऊपर कमला की ओर देख रहा है।

दूसरे हिस्सों में रहने वाले कुछ लोग सामने की छोटी-सी दीवार पर कपड़े सुखा रहे हैं।

जिस हिस्से में काले छापे वाली साड़ी सूखने डाली गई है, उसमें तमिल दंपती रहते हैं। उनके पांच साल की लड़की है। दो महीने पहले वह लड़की अचानक बीमार हो गई थी। रात में दम घुटने से ऐंठने लगी थी। उस लड़की का बाप रेलवे शेड में काम करता है। डाक्टर को बुला लाने वह हड़बड़ाकर फौरन भागा, लेकिन उसे डाक्टर के दर्शन तक नहीं हुए। घर पर गया, तो बताया गया कि क्लब में हैं। क्लब पर पहुंचा, तो बताया गया कि घर गए हैं। क्लब और डाक्टर के घर के दो-तीन चक्कर लगाकर वह दीन भाव से अपने घर लौटा तो लड़की की मां जोरों से रोने-बिलखने लगी। अगल-बगल के हिस्सों में बत्तियां जलीं। 'क्या बात हुई? क्या बात हुई?' पूछते हुए लोग आ जुटे। उन दिनों कमला का बड़ा भाई दास छुट्टी पर आया हुआ था। बात सुनकर वह होम्योपेथी की कुछ गोलियां लेकर वहां गया और उस लड़की से वे गोलियां निगलवाने और हिम्मत बंधाने के बाद अपने घर लौट आया था। फिर से सब जगह शांति हो गई थी। अगल-बगल के हिस्सों में बत्तियां बुझ गई थीं। सवेरे तक उस लड़की की हालत में कुछ सुधार हुआ था। उसी दवाई की एक खुराक और देकर दास कह आया था– 'अब फिक्र की कोई बात नहीं है।'...

भाई को लेकर सोचने लगी, तो कमला की आंखों में आंसू छलक आए। गला साफ करते हुए और चश्मा उतारकर आंचल से आंखें पोंछते हुए वह खड़ी रही। फिर नीचे से चीखना-चिल्लाना सुनाई पड़ा, तो चश्मा लगाकर उसने नीचे देखा। एक हिस्से के सामने खड़ा दूध वाला चीखे जा रहा है। थोड़ी देर आफत मचाने के बाद अंत में 'देने को दाम नहीं थे, तो दूध लिया ही क्यों था? अपने बाप का माल समझ लिया था? कल मेरा पैसा चुकता नहीं किया, तो इज्जत नहीं बचेगी, देख लेना!' यह धमकी देकर वह चला गया।

उस हिस्से में रहने वाला आदमी एक बनिए

की दुकान पर बहीखाता लिखता है। उसे तनख्वाह मिलने की कोई पक्की तारीख नहीं है। बनिए को जब यह अहसास होता है कि उसके पास जितना पैसा आना चाहिए, उतना आ गया है, तब उसकी तरफ फेंकता है। जब तक वह खुद नहीं देता, तब तक इस आदमी को मांगने की इजाजत नहीं है। इसलिए दूध वाले का ही क्यों, कोयले वाले का, पंसारी का और सब लोगों का बार-बार इस तरह 'इज्जत नहीं बचेगी, देख लेना' कहकर उसे धमकाना बहुत बार हो चुका है। उस आदमी की इज्जत अभी बची है या खत्म हो चुकी है, इस बात का फैसला अभी नहीं हो सका है।

दाएं हाथ की तर्जनी से मुंडेर पर ताली बजाती हुई कमला उसी तरह खड़ी रही। सामने सूरज तीक्ष्णता से प्रकाशित हो रहा है। धूप में दाहकता बढ़ती जा रही है। नीचे के हिस्सों में काम पर जाने वाले लोग अभी से जल्दी मचा रहे हैं। उनकी पत्नियां, जो भी घर में है, वही तुरत-फुरत पका-बकाकर डाल देने की जल्दी में हैं। बगल वाले हिस्से में रहने वाली शांतम्मा अभी बाहर नहीं निकली हैं। वह उठ पड़ने के तत्काल बाद ही शुद्धता की दृष्टि से ब्राह्मण परिवारों में रसोई में जाने से पहले पहनी जाने वाली गीली साड़ी पहनकर ही खाना बनाने का काम शुरू करती हैं और देहरी के सामने वाले तुलसी-चौरे में पानी देने के बाद ही पति को खाना परोसती है। इस बीच पति दस बार पुकार चुके होते हैं। इंतजार कर-करके उकताने के बाद वे सबको सुनाते हुए कहते रहते हैं— "पांच मील जाना है मुझे...तुम केंचुआ चाल चलती रहीं तो उधर लोग चुप नहीं रहने वाले। जल्दी करो, जल्दी!" पत्नी 'अभी आई...अभी..आई...' कहते हुए अपने दूसरे काम निपटाती रहती है।

सामने पृथ्वी की सारी हवा को सोख लेने के बाद दुनिया पर नुकीली गरम किरणें छोड़ता सूर्य बिंब ऐसा लग रहा था जैसे अंगारे बिखेरता कोई थाल हो। कमला ने पल-भर आकाश की तरफ देखा। दो पक्षी मरे-से उड़ रहे हैं। कुछ दूर सब मकान ही मकान हैं— शहद के छत्तों जैसे। उनमें बने बहुत तंग हिस्से। उन हिस्सों में फंसकर उम्र काटते आदमी। उस टोले की बगल में जहां तक नजर जाती है, वहां बस झुग्गियां ही झुग्गियां... भू-माता के शरीर पर निकल आए फोड़ों की तरह दिखती गंदी-घिनौनी छोटी-छोटी झुग्गियां. ..उनमें रहते असंख्य लोग...!

कमला यह सब देख रही थी कि एक नन्ही-सी काली कार उस मकान के सामने आकर रुकी। उस मकान का मालिक प्रभाकरम् सफेद कपड़ों में कार से बाहर आ गया। उसके बाएं हाथ में सिगरेट की डिब्बी और दियासलाई है। उस हाथ की उंगलियों में हीरे की दो अंगूठियां दमक रही हैं।

कमला कुछ-कुछ घबराई। उसने ध्यान से देखा। फिर आंचल संभालकर मन में कहा— 'वह इधर ही आ रहा है।' फिर जल्दी-जल्दी वह अंदर गई और बाईं ओर बनी एकमात्र नन्ही-सी खिड़की की बगल में खड़ी होकर आयताकार में दिखाई दे रहे आकाश की ओर देखती रही। इतने में दरवाजे के पास पैरों की आहट हुई।

"कमला देवी जी!" प्रभाकरम् ने पुकारा और चप्पल बाहर ही छोड़कर अंदर आ गया।

कमला ने साड़ी के आंचल में हुई सिलाई को छिपाते हुए तरतीब से उसे कंधों पर ले लिया और प्रभाकरम् की तरफ मुड़कर बोली— "आइए...आइए. ..!"

प्रभाकरम् दो कदम आगे बढ़ आया और एक कोने में चारपाई पर पड़े हुए वृद्ध की ओर देखते हुए पूछा— "आपके पिताजी की हालत अब भी वैसी ही है क्या?"

"जी...वैसी ही है...कोई सुधार नहीं है। रात-भर हवा नहीं थी, तो दम घुटने से बहुत तकलीफ हुई। अभी-अभी आंख लगी है...!" सिर हिलाकर कमला ने कहा।

प्रभाकरम् ने बूढ़े सज्जन की तरफ एक बार फिर देखा। उनकी सांस बहुत भारी चल रही है। खूब दुबले हो जाने से हड्डियों का ढांचा-भर रह गए हैं। बढ़ी हुई दाढ़ी मैली और घिनौनी लग रही है।

"किराया मांगने आया था आपसे। अब तक तीन महीने का किराया बकाया हो गया है। आपके भाई ने पैसे अभी तक नहीं भेजे क्या?" प्रभाकरम् ने पूछा।

"जी नहीं...जाने वहां किस आपाधापी में है. ...!" कमला ने धीमे से कहा।

"ठीक है...! पैसा आते ही सारा बकाया चुकता कर दीजिएगा। जब का तब चुकता नहीं किया, तो आगे जाकर आप ही के लिए मुश्किल हो जाएगी। आगे आपकी मर्जी!" कहते हुए दरवाजे की तरह कदम बढ़ाते-बढ़ाते वह रुका और बोला— "हां, पैसा आते ही किसी स्पेशलिस्ट को बुलाकर अपने पिताजी का अच्छा इलाज करवाइए। बीमारी बढ़ गई तो खतरा. ..!" फिर झिलमिल कुर्ते की जेबों में हाथ डालकर उसने कहा— "अब मैं चलता हूं...!"

और चलते-चलते दरवाजे के सामने रुककर क्षण-भर वह कमला की तरफ अपलक देखता रहा। फिर नजरें हटाकर तेज कदम बढ़ाता हुआ चला गया।

एक लंबी सांस छोड़कर कमला ने पिता की ओर देखा। जितना वह पिता को देखती रही, उतना ही उसके अंदर चिंता और दुख का उफान-सा आता रहा। उन्होंने जिंदगी-भर चाकरी की थी। तरह-तरह की छोटी-छोटी नौकरियों में बरसों तक खटते रहे हैं। अंत में आया क्या था उनके हाथ! कुछ भी नहीं! रिटायर होने के समय तक एक बीमारी, उससे चढ़ी कमजोरी, मानसिक व्यथा— बस ये ही उनके हाथ लगी थीं। बेटा दास और बेटी कमला को वे अपनी दो आंखें मानते थे। 'मैंने इनको जन्म तो दिया, पर सुख तो नहीं दे सका।' यह सोचकर बहुत बार वे उदास होते रहे हैं। दास को मैट्रिक तक पढ़ाते-पढ़ाते उनका दम फूल गया था। कमला में पढ़ने की बहुत इच्छा है। पढ़े-लिखे और पढ़ते हुए लोगों के प्रति उसमें सम्मान की भावना है। नौवीं कक्षा तक पढ़ने के बाद उसे अपनी पढ़ाई बंद करनी पड़ी। काम-धाम देखते हुए उसे घर में ही बैठे रहना पड़ा। इधर-उधर कुछ नौकरियों के लिए विफल प्रयास करने के बाद एक दिन हिम्मत करके दास उत्तर भारत भाग गया। कई सौ मील दूर एक फैक्ट्री में जगह पा लेने के बाद उसने घर एक चिट्ठी लिखी थी। कुछ ही महीने पहले वह छुट्टी पर आकर लौट गया है।

कमला दरवाजे से टेक लगाए उसी तरह खड़ी रही और भाई को याद करके उसने आंखें पोंछ लीं। इतने में उसे अपने चश्मे को लेकर चिढ़ हुई। यह भी एक मुसीबत है! गंदा लगता है!... इस उम्र में चश्मे का क्या मतलब? बदकिस्मती नहीं तो और क्या है? उसने मन में कहा।

इतने में चारपाई पर पड़े वृद्ध ने आंखें खोलीं। धीमे से उन्होंने कमला को पुकारा। वह तेजी से पिता के पास पहुंचकर बोली— "उठ गए, बापू! हाथ-मुंह धो लो। फिर थोड़ा दूध पी लेना।"

वृद्ध कुछ नहीं बोले। आंखें बड़ी-बड़ी करके बेटी की तरफ देखते हुए उठ पड़े। फिर बेटी का सहारा लेकर साथ वाले छोटे कमरे में जाकर मोरी के पास उन्होंने हाथ-मुंह धो लिए। फिर बेटी के कंधों पर हाथ रखे चले आए और चारपाई पर बैठ गए। कमला ने दूध लाकर दिया। धीरे-धीरे दूध पीते हुए और अजीब तरह से देखते हुए उन्होंने कहा— "अभी एक सपना देखा है मैंने, बेटी!"

"कैसा सपना, बापू!" कमला ने पूछा।

"मैं समुद्र के किनारे पैदल चला जा रहा हूं। सुनसान जगह। थोड़ी देर मैं दौड़ता रहा। इतने में मेरे पंख लग गए। फिर मैंने उड़ना शुरू किया। उड़ते-उड़ते मैंने अपनी तरफ देखा, तो मैं कौआ बन गया था। फिर मैं दूसरे कौओं में शामिल हो गया।"

उन्होंने रुकते-रुकते कहा।

दूध पीना खत्म करने के बाद जाने क्यों, आंखें बड़ी-बड़ी करके अजीब तरह से ऊपर की दिशा में देखते हुए वे लेटे रहे। थोड़ी ही देर बाद लगा, जैसे उनको झपकी आ गई है। वे निश्चल लेटे रहे।

कमला साथ वाले कमरे में गई और जिस डिब्बे में उसने दो दिन पहले जो चिट्ठी छिपाकर रखी थी, उसे बाहर निकाला। लेकिन उसने चिट्ठी पढ़ी नहीं। उसे खोला भी नहीं । क्षण-भर बाद चिट्ठी ज्यों की त्यों रखकर इधर को आ गई। गीली आंखों से उसने देखा, तो खिड़की में से जितना आसमान दिखाई दे रहा था, उसमें दो पक्षी तेजी से उड़कर जाते हुए दिखाई पड़े।

समय दोपहर के बारह बजे से ज्यादा हो गया है। गर्मी...! गर्मी...! गर्मी...! ऐसा लग रहा है जैसे समस्त चराचर विश्व को तपाकर लाल हुए तवे पर रख दिया गया हो। थोड़ी देर गर्म हवा चलती है। इतने में रूठकर वह घंटों हिलना-डुलना बंद कर देती है। सूर्य बिंब खूब तपे इस्पात के गोले की तरह चिनगारियां बरसाता हुआ समस्त जीवकोटि को 'उफ्फ...' ही करते रह जाने को विवश कर रहा है।

बहुत प्रयास करके कमला ने पिता को उठाकर बिठाया। वे लगभग सोते-सोते हुए ही उठकर बैठ गए । कमला ने चम्मच से उनको धीरे-धीरे चावल की लपसी पिलाई। फिर उनका मुंह पोंछकर धीरे से लिटा दिया। क्षण-भर बाद ही उन्होंने कहा— "हवा... हवा...!"

बात सही है, हवा नहीं है। हवा दुनिया में कहीं नहीं है। पैसे देकर संपन्न लोगों के खरीदने पर वह मिलेगी या नहीं, यह उसे नहीं मालूम।

"हवा...हवा...!" वृद्ध ने एक बार फिर कहा।

कमला क्षण-भर सोचती रही। बात सही है, आदमी को हवा तो चाहिए। अचानक उसे याद हो आया। ऊपर की मंजिल के एक हिस्से में किराएदार रेलवे के एक कर्मचारी के घर में एक पुराना पंखा है। कुछ दिन पहले कमला ने उसे देखा था। कोई चीज मांगने उनके यहां गई थी, तो कमरे में स्टूल पर वह पंखा कुंडली मारकर सिर उठाए हुए सांप की तरह दिख रहा था और तेजी से घूम रहा था। कमला के मन में एक बात आई— 'एक बार जाकर मांगूं तो!'

वह धीरे से उठी, ब्लाउज की खोंच को छिपाते हुए आंचल को कंधों को घेरकर लपेट लिया और दरवाजे उढ़काकर निकल पड़ी। वह जिस संकरे बरामदे से होकर गई, वह ऐसा गर्म था जैसे वहां अंगारे बिछे हों। आहिस्ता-आहिस्ता सीढ़ियां चढ़कर वह ऊपर की मंजिल में पहुंची।

वह आदमी घर पर नहीं था। उसकी पत्नी दोनों बच्चों को चटाई पर लिटाकर खुद उनकी बगल में लेटी कोई पत्रिका पढ़ रही थी। पास ही एक कोने में पंखा घूम रहा था।

दरवाजे के बाहर खड़ी होकर कमला क्षण-भर सोचती रही। इतने में अंदर से उस औरत ने सिर उठाकर पूछा— "कौन है?"

"मैं हूं, दीदी!" मुस्कराते हुए कमला ने कहा और अंदर चली गई।

गृहिणी उठ बैठी और बोली— "आओ कमला, आओ।" लेकिन उसके चेहरे पर प्रसन्नता नहीं थी। कमला के अंदर आकर बैठने के बाद भी वह पढ़ती ही रही। कुछ बोली नहीं।

"दीदी! बाबूजी को बहुत तकलीफ हो रही है।" कमला ने धीरे से कहा।

गृहिणी ने सिर उठाया और मुंह चुभलाकर दया भाव से बोली— "बेचारे! बड़ी उम्र हो गई है। ऊपर से कड़ाके की गर्मी का मौसम!"

"हां दीदी, एक तो सांस उखड़ जाती है, दूसरे हवा बिल्कुल नहीं चल रही है। इससे बहुत तकलीफ हो रही है। थोड़ी देर के लिए...!" कहते-कहते वह रुक गई। गृहिणी ने कमला की तरफ देखा।

"आप बुरा न मानें, तो थोड़ी देर के लिए अपना पंखा जरा दे दीजिए। एक घंटे के बाद वापस कर दूंगी।" सिर झुकाए कमला बोली।

गृहिणी क्षण-भर कुछ बोली नहीं। फिर उसने कहा— "देखो कमला, ये छोटे-छोटे बच्चे हैं। सो रहे हैं। अब कैसे दूं, बताओ...!"

इसके बाद दोनों में से कोई कुछ नहीं बोली।

कमला उठ पड़ी। उसने आंचल से माथा पोंछा और फिर उसी से हवा करते हुए बोली— "ठीक है...चलती हूं।"

उसने घर आकर पिता की तरफ देखा, तो वे भारी-भारी सांस लेते हुए लेटे थे।

कमला फिर खिड़की के पास बैठ गई— दीवार की टेक लिए आकाश में देखती हुई। थोड़ी ही देर में उसकी आंखें मुंद गईं। उसका एक रंगीन सपना शुरू हो गया—

...वे लोग एक गांव में रह रहे हैं।...यों भी वहां बहुत थोड़े-से मकान हैं। जो हैं, वे भी दूर-दूर। उनका मकान गांव के एक सिरे पर नारियल के पेड़ों के बीच में बना हुआ है... वहां से आधे मील दूर पर ही समुद्र है...उसका शोर हमेशा साफ सुनाई देता रहता है। समुद्र के ऊपर से आने वाली तेज हवाएं— चाहे दिन हो, चाहे रात— बाण के वेग से चलती रहती हैं। सिर से नहाकर वह यों ही बाहर निकल आई है। तेज हवा ने उसके बाल बिखेर दिए हैं और बिखरे बाल बार-बार उसके चेहरे और आंखों को ढक रहे हैं। चिढ़कर बालों को ऊपर सरकाते हुए वह 'छिः यह हवा भी एक मुसीबत है!' कहकर झिड़क रही है...

इतने में वह चौंककर उठ पड़ी। उसका रंगीन सपना बिखर गया। दर्द से कराहते हुए पिता पुकार रहे थे। वह पिता के पास जाकर बैठ गई।

"हवा नहीं चल रही है, बेटी...दरवाजे खोल दे।" हांफते हुए पिता ने कहा।

"सारे दरवाजे खुले ही रखे हैं, बापू!"

"अच्छा!" कहकर पिता क्षण-भर रुके और फिर पूछा— "भैया के यहां से आज भी पैसा नहीं आया क्या, बेटी?"

"नहीं बापू! वहां जाने कैसी परेशानियों में फंसा है!" पिता की तरफ से आंखें हटाकर कमला ने कहा।

पिता ने फिर से आंखें मूदं लीं। थोड़ी देर में उनको नींद आ गई या खुमारी छा गई, वे आंख मूंदकर लेटे रहे। कमला धीरे-धीरे हवा करती हुई बैठी रही। लेकिन इस तरह आदमी को कोई आराम नहीं मिलता।

कमला उठकर अंदर वाले कमरे में गई और एक बार फिर उस चिट्ठी को देखने लगी। उसकी आंखों में आंसू उभर आए। फिर मन में आया कि जोर-जोर से रो पड़ूं तो अच्छा हो। लेकिन बहुत प्रयत्न करके उसने अपनी रुलाई रोकी, आंखें पोंछीं और फिर चिट्ठी को ब्लाउज में छिपाकर इधर को आ गई।

'आज की रात पिताजी की चारपाई के पास पंखा तो होना ही चाहिए।' उसके मन में आया। वरना उनकी हालत कितनी बिगड़ जाएगी, यह वह जानती है। वह चाहे कितने धैर्यपूर्वक हवा करती बैठी रहे, उनका दम घुटेगा और वे तड़पते रह जाएंगे। पंखे से मिलने वाली ठंडी-ठंडी और हल्की-हल्की हवा का आराम इस रात इनको मिलना ही चाहिए।

कमला ने नीचे देखा। नन्हे-से हवाई जहाज जैसी वह कार फिर मेन गेट में से आती हुई दिखाई पड़ी। प्रभाकरम् उसमें से उतर आया और किसी से कुछ बात करके तुरंत ही लौटने को हुआ। तभी उसने ऊपर की ओर निगाह उठाई। कमला ने अनायास ही हाथ हिलाकर उसे ऊपर आने का इशारा किया। क्षण-भर सोचने के बाद धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़कर वह ऊपर आ गया। उसे ऊपर आने में कुछ ज्यादा ही देर लगी। उतनी देर में दरवाजे के पास खड़ी कमला ने अपने कपड़े सावधानी से इस तरह संभाल लिए कि ब्लाउज की खोंच और काली साड़ी

के आंचल पर सफेद तागे से की हुई सिलाई दिखाई न पड़े। फिर छोटे-से उस बरामदे में से आगे बढ़ आते प्रभाकरम् की तरफ देखकर वह मुस्कराई।

पास आते ही प्रभाकरम् ने पूछा– "आपने बुलाया? क्यों, पैसा आ गया क्या?"

कमला ने 'न' में सिर हिलाकर कहा– "जी नहीं... उम्मीद थी कि आज तो जरूर ही आएगा। यह देखिए, आज की इस चिट्ठी में भी यह लिखा है। आते ही मैं आपका पैसा आपको फूलों में रखकर दे दूंगी। जरूर..."

"ठीक है।"

"जी, ऐसा है कि यहां मैं अकेली-अकेली..! कुछ सूझता नहीं है...मुझे आपका मकान देखने की बड़ी इच्छा होती है। देख सकती हूं क्या?" कमला ने फिर कहा।

प्रभाकरम् ने कुछ अचरज से देखा। फिर तुरंत ही संभलकर बोला– "इसमें कौन-सी बड़ी बात है? ठीक है, चलिए...अभी चलें?"

"हां, अभी चलते हैं। अभी दरवाजा उढ़काकर आई।" दरवाजे पर खड़ी होकर कमला ने एक बार पिता की तरफ देखा। उनके लेटने की भंगिमा में कोई बदलाव नहीं आया था। 'आज सूरज डूबने के वक्त तक उनकी चारपाई के पास ठंडी-ठंडी हवा की लहरों को फैलता हुआ, कोई पंखा रहेगा। रात को वे आराम से सो सकेंगे और संभव हुआ, तो सुंदर-सुंदर सपने भी देखेंगे।' वह सोचती रही।

कमला ने दरवाजा उढ़का दिया और 'चलिए!' कहकर प्रभाकरम् के पीछे-पीछे चलने लगी।

वह जानती है कि प्रभाकरम् के घर में उसके अलावा दूसरा कोई नहीं रहता। वह अच्छा आदमी नहीं है, यह बात भी कुछ लोगों की आपसी बातचीत में वह सुन चुकी है। फिर भी बिना किसी झिझक या संकोच के, वह उसके साथ चलकर आई और गाड़ी में बैठ गई। प्रभाकरम् तेजी से गाड़ी चलाने लगा। कार चलने से हवा के जोर के थपेड़े लगने लगे, तो उन थपेड़ों का आनंद लेते हुए कमला ने क्षण-भर आंखें मूंद लीं।

"आपके पिताजी की बीमारी में अभी कुछ सुधार नहीं है न! बेचारे...! किसी अच्छे डाक्टर को दिखाकर..." प्रभाकरम् ने कहा।

"बात उम्र की है न जी...तकलीफ कोई भी हो, जल्दी पीछा नहीं छोड़ती।" कमला ने हंसकर कहा।

प्रभाकरम् और कुछ बोला नहीं। कमला ही कुछ देर बाद बोली– "बाप रे! कितनी गर्मी है! इस साल तो और भयंकर है। इसके अलावा हवा भी ऐसी बंद है जैसे हड़ताल पर हो।"

"सही बात है...सही बात है।" प्रभाकरम् ने सिर हिलाया।

"जाने क्या है, मुझे ऐसे वातावरण की कभी आदत नहीं रही। बचपन से मैं अपने गांव में आराम से पली हूं। हां, हमारे गांव के बारे में आपको मालूम नहीं है न जी!...कितना खूबसूरत गांव है हमारा... एकदम शांत!...गांव के पास ही समुद्र...चाहे जैसा गर्मी का मौसम हो, ठंडी हवा...कभी-कभी तो चिढ़ भी होती थी...एक ही शोर करते हुए हमेशा तेज हवा चलती रहे तो भी परेशानी होती है न जी...! अब यहां देखो, तो हवा का नाम नहीं...कितनी परेशानी है! अभी, इसी वक्त हम अपने गांव में रहते होते तो कितना अच्छा होता...!" कमला ने फिर कहा।

कमला का जन्म बड़े शहर के एक कोने में बसे तंग टोले के किराए के मकान के एक हिस्से में हुआ था। पली-बढ़ी भी थी उसी तरह के तंग टोले के किराए के हिस्से में ही। आज तक उसने शांत देहात जैसी चीज देखी तक नहीं है।

"अपने भाई के काम के बारे में आपने अभी क्या बताया?" कार को मोड़ पर काटते हुए प्रभाकरम् ने पूछा।

"मैंने अभी तक कुछ भी तो नहीं बताया।" कमला हंसी।

प्रभाकरम् भी हंसा और बोला– "कोई बात नहीं, अब बताइए...!"

उत्तर भारत के किसी शहर का नाम बताकर कमला बोली– "जहां टैंक और हवाई जहाज बनाते हैं न, बड़ी-सी फैक्टरी...उसमें करता है काम।"

और कुछ बात किए बगैर प्रभाकरम् ने गाड़ी गैराज में ले जाकर खड़ी कर दी। गाड़ी से निकलकर कमला ने देखा– छोटा-सा मकान...सुंदर...सामने किस्म-किस्म के पौधे...!

"आइए...!" कहते हुए प्रभाकरम् ने बरामदे में से जाकर दरवाजे का ताला खोला। फिर साथ वाला कमरा दिखाते हुए उसने कहा– "अंदर बैठिए. ..अभी आता हूं..!" और दूसरे कमरे में चला गया।

कमला ने दरवाजे को धक्का दिया। वह स्प्रिंगवाला दरवाजा है। कमला के अंदर जाते ही वह अपने आप बंद हो गया। अंदर ठंडा, खूब ठंडा है। खिड़की में स्थापित बक्से जैसी किसी मशीन में से आ रही ठंडी हवा बहुत आराम दे रही है। ऊपर का पंखा भी घूम रहा है। प्रभाकरम् पंखा बंद किए बिना ही जल्दी में निकल पड़ा होगा। ...खिड़की के पास मसहरी बंधा पलंग...उसके ऊपर नरम-नरम गद्दा...दो-तीन तकिए...पलंग के साथ ही नक्काशी की हुई सुंदर और कीमती तिपाई... साथ में कुर्सियां. ..तिपाई पर कुछ पुस्तकें...एक दूसरी सुंदर-सी मेज पर टेबिल फैन...लेकिन वह बंद है।

कमला पंखे की ओर अपलक देखती रही। भूखी आंखों से ऐसी लालसा से देखती रही जैसे उसी क्षण उसे अपना बना लेना चाहती हो।

कपड़े बदलकर प्रभाकरम् आ गया। आते ही उसने कहा– "यह है जी हमारा मकान, नहीं, नहीं, मेरा मकान।" फिर उसने कहा– "अरे, आप इस तरह खड़ी क्यों हैं? बैठिए न..!" फिर पूछा– "पानी पीएंगी?" कमला ने हां में सिर हिलाया तो उसने खिड़की में रखी सुंदर-सी सुराही में से ठंडा पानी लाकर दिया। कमला गिलास हाथ में ले रही थी कि उसकी उंगलियां प्रभाकरम् की उंगलियों से छू गईं।

कमला ने गिलास लेकर गटगट पानी पी लिया और सोफे की पीठ का सहारा लेकर कुछ फैलकर बैठते हुए कहा– "जय भगवान!"

फिर प्रभाकरम् की किताबों की अलमारी पर नजर पड़ी, तो वह उठकर गई और एक-एक पुस्तक को ध्यान से देखने लगी। प्रभाकरम् उसी की तरफ अपलक देखते हुए पलंग पर तकियों की टेक लगाकर बैठा रहा।

"अरे, आपके पास बहुत अच्छी-अच्छी किताबें हैं! यह देखिए, यह किताब मैंने भी पढ़ी है। कहां पढ़ी थी? हां, हां, याद आया, गांव में मकान के बाहर चबूतरे पर बैठकर पढ़ रही थी, तो तेज हवा में पन्नों के बार-बार फड़फड़ाते रहने से मुझे चिढ़ भी हुई थी...यह किताब मुझे बहुत पसंद भी आई थी।" कमला बोलती रही।

फिर सोफे पर बैठकर वह अपने गांव के बारे में बहुत सारी बातें बताती रही। उसने कहा कि इस दुनिया में ऐसा दूसरा कोई गांव नहीं है। वहां के वातावरण में कृत्रिमता नाम की कोई चीज नहीं है, चाहे जैसा गर्मी का मौसम हो, सारा गांव एयरकंडीशंड कमरे की तरह रहता है। फैन जैसी झंझट वाली चीजों की वहां कोई जरूरत नहीं होती। शाम के वक्त उधर समुद्र के किनारे जाकर बैठो, तो बस, जिंदगी में और किसी चीज की जरूरत ही महसूस नहीं होती।

प्रभाकरम् चुपचाप बैठकर सुनता रहा।

इतने में कमला ने उठ पड़ते हुए कहा– "अच्छा...मुझे आए हुए बहुत देर हो गई है... चलती हूं।"

"अरे, अभी चार ही तो बजे हैं! थोड़ी देर और बैठिए न! बाहर थोड़ा ठंडा हो जाने पर जाइएगा।" कलाई की घड़ी की तरफ देखते हुए प्रभाकरम् ने कहा।

फिर वह कॉफी बनाने के लिए उठ पड़ा। कमला ने फौरन कमर कस ली और स्टोव के सामने जाकर बैठते हुए बोली– "अरे नहीं, यह कोई बात है? आप क्यों कॉफी बनाएंगे? आज मेरे हाथ की बनी कॉफी का स्वाद देखिए।"

प्रभाकरम् ने जरूरी सामान वहां ला दिया, तो कमला ने कॉफी के लिए पानी चढ़ा दिया। जितनी देर कॉफी बनाती रही, उतनी देर वह कुछ-न-कुछ बोलती ही रही।

प्रभाकरम् कमला की ही तरफ देखता रहा। 'इस लड़की के चश्मा न लगा होता, तो कितना अच्छा होता! बड़ी-बड़ी उन आंखों पर यह चश्मा कितना भद्दा लग रहा है? अगर चश्मा लगा भी है, तो उसका फ्रेम तो कोई बढ़िया और सुंदर-सा होना चाहिए। यह काला और सस्ता फ्रेम बहुत ही खराब लग रहा है। इसकी काली साड़ी भी काफी पुरानी है। सिलाई दिखाई दे रही है। ब्लाउज को भी कंधे पर फटा हुआ होना चाहिए। इस तरह आंचल से बदन को पूरा-पूरा ढक लेने का मतलब यही है..!' उसने मन में कहा।

कमला ने कॉफी का एक कप प्रभाकरम् को पकड़ाया, एक कप लेकर खुद बैठ गई और बोली– "बताइए..कॉफी कैसी लग रही है?"

"कमाल की लग रही है।"

कमला ने बातें करते-करते ही कॉफी पी। फिर सहसा उठ पड़ी और कमरे में इधर से उधर टहलते हुए बचपन में गांव में भाई के साथ खेतों और बगीचों में जो खेल वह खेलती रही थी, उनके बारे में बताती रही। वहां के वातावरण, वहां की हवा, वहां के समुद्र– सबके बारे में वह उत्साह से बताती रही। बीच-बीच में सिर पीछे को लटकाकर खूबसूरती से हंसती रही।

प्रभाकरम् उसी भंगिमा में बैठकर सारी बातें सुनता रहा। बाहर अंधेरा उतर रहा था। उठकर उसने बत्ती जलाई। कमला एकदम चौंककर उठ पड़ी और अधीर होकर बोली– "अरे! दिन डूब भी गया... अब मुझे चलना चाहिए।"

"ठहरिए...कपड़े बदलकर आता हूं। आपको घर छोड़ दूंगा..!" अंदर जाते हुए प्रभाकरम् ने कहा।

कमला टेबिल फैन की तरफ ही देखती रह गई। रात को उसे पिता की चारपाई की बगल में होना ही चाहिए। पक्के तौर पर होना चाहिए। उसके लिए...वह फैन को हाथों से घुमाती हुई खड़ी रही। इतने में प्रभाकरम् कमरे में आ गया।

कमला चलकर उसके नजदीक गई और फर्श की तरफ देखती हुई बोली– "जी...आपसे एक चीज मांगना भूल ही गई। कुछ नहीं...पिताजी की तबियत ठीक नहीं है न! हवा न मिलने और दम घुटने से उनको बहुत तकलीफ हो रही है। हमने अपना फैन रिपेयर के लिए दे दिया है। अभी आया नहीं है। अब यह फैन अपने साथ ले चलते हैं। फिर कभी जब आपको सुविधा हो, तब वापस ले आइएगा..!"

"इसमें कौन-सी बड़ी बात है? ऐसा ही करते हैं।" कहते हुए प्रभाकरम् ने फैन का प्लग निकाला, वायर को फैन की गर्दन पर लपेटा और कुछ मुक्त भाव से कमला के कंधे पर हाथ रखकर हंसते हुए बोला– "चलिए, चलते हैं..!"

हल्का-सा मुस्कराकर कमला ने 'थैंक्स' कहा और प्रभाकरम् के हाथ को धीरे से हटाकर चलते हुए कहा– "भैया के पैसे भेजते ही एक नया सीलिंग फैन खरीदना है जी हमें...सबसे बढ़िया वाला...लेकिन आप यह सोचकर घबराइए नहीं कि आपके किराए के पैसे नहीं दूंगी...भैया ने लिखा है कि इस बार बहुत सारे पैसे भेज रहा हूं। ...यह देखिए उनकी चिट्ठी..!" ब्लाउज में से चिट्ठी निकालकर कमला ने दिखाई। लेकिन उसे प्रभाकरम् के हाथ में नहीं दिया।

पीछे की सीट पर फैन लिए बैठी कमला ने चिट्ठी एक बार फिर पढ़ी। उसकी आंखों से धाराप्रवाह आंसू बहने लगे। आंचल से बार-बार पोंछते रहने पर भी उसके आंसू थम नहीं रहे थे। मन की पीड़ा आंखों के रास्ते चुपचाप बह रही थी।

"अरे, क्या बात है?" मुड़कर प्रभाकरम् ने आश्चर्य से पूछा।

"कुछ नहीं। मेरे भैया बड़े नटखट स्वभाव के हैं। बचपन से ही ऐसे हैं। चिट्ठी दुबारा पढ़ रही थी, तो उनकी कुछ बातें याद आ गईं।" कमला ने कहा।

प्रभाकरम् ने गाड़ी चलाना जारी रखा। सीट पर पीछे को सिर लटकाकर कमला ने आंखें बंद कर लीं। उस चिट्ठी...उसके अंदर के समाचार के बारे में अब तक अकेले उसी को मालूम है।... जाने वह कितनी बड़ी फैक्टरी है! हमारे टोले जितनी बड़ी शायद हो! उसमें जाने कैसे-कैसे दांतों वाले भयंकर चक्र लगातार घूमते रहते हैं! फिर भी हमेशा खूब सावधानी बरतने वाला आदमी, उन बड़े-बड़े दांतों वाले चक्रों के बीच में जाने कैसे-कैसे फंस गया! लेकिन उन चक्रों के बीच में गए ही क्यों थे? जान निकलने में कितनी देर लगी होगी? आखिरी क्षणों में उन्होंने क्या सोचा होगा? सैकड़ों मील दूर रहने वाली प्यारी बहन और बाबूजी याद आए होंगे? उनका, मांस के उस लोंदे का उस फैक्टरी वालों ने क्या किया होगा? असल में मांस का वह लोंदा भी बच पाया था या नहीं?...

कार रुकी। कमला ने आंखें खोलकर देखा। पहले से ही आए हुए चार-पांच बच्चे कार के सामने खड़े होकर देख रहे हैं और नीचे की मंजिल के कुछ किराएदार भी दरवाजों के सामने खड़े, कार की ही तरफ ताक रहे हैं। वे लोग आंखों-आंखों में ही एक-दूसरे से कुछ बात कर रहे हैं। पहली मंजिल वाला विद्यार्थी हाथ में कोई किताब लिए डाह-भरी आंखें कार पर गड़ाए हुए खड़ा है।

कमला कार से उतरी और एक हाथ से फैन को पकड़े हुए दो कदम बढ़ाकर मुस्कराहट के साथ प्रभाकरम् से बोली– "आपको धन्यवाद! बहुत बड़ी मदद की आपने। अब चलती हूं। हां, याद आया... आपके घर में रखी कुछ किताबें मुझे चाहिए। कल कभी आकर ले आऊंगी। फिर जैसी हैं बिल्कुल वैसी ही लौटा दूंगी आपको..!"

कार से उतरकर खड़े होने के बाद कुछ विचित्र तरीके से मुस्कराते हुए प्रभाकरम् ने कहा– "ठीक है...मैं खुद मौका देखकर आऊंगा और आपको ले जाऊंगा।"

धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़कर कमला पहली मंजिल के बरामदे में पहुंची और उस बरामदे में से चलकर दूसरी मंजिल की सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंच गई। अपने हिस्से के दरवाजे के सामने पहुंचकर वह खड़ी हो गई और नीचे को देखकर मुस्कराते हुए उसने हाथ हिलाया। फिर 'आज इतनी सारी बातें मैंने कैसे कीं?' –अपने पर ही आश्चर्य करके मुस्कराते हुए फैन को हाथ में लिए दरवाजे को धकेलकर वह अंदर घुसी। चारपाई पर पिता अस्त-व्यस्त पड़े थे।

कमला ने लाइट जलाई और पिता की चारपाई की बगल में टीन के बक्से के ऊपर फैन रख दिया। फिर प्लग लगाकर उसे चला दिया। चलाते ही हवा हल्की-हल्की लहरों की तरह चलने लगी। फिर उसने 'बाबूजी...बाबूजी, उठिए।' कहकर थपथपाकर पिता को उठाने की कोशिश की। लेकिन वे नहीं उठे। दमघोंटू गर्मी के मारे...जाने कितना तड़प-तड़पकर उन्होंने प्राण त्यागे थे...उनका एक हाथ चारपाई से नीचे की ओर लटक रहा था!

कमला को ऐसा लगा जैसे आंखों के सामने सहसा काले-काले पर्दे उतर आए हों। आंखों के सामने घोर अंधकार छा गया।...स्तब्ध स्तंभित रात..उस घोर अंधकार में भी टीन के बक्से पर रखा फैन फन उठाए खड़े सफेद सांप की तरह उसे दिखाई देता रहा। वह एकदम जोर से चीख पड़ी– "बाबूजी!"❑

संपर्क : पेद्दिभोट्ला सुब्बरामय्या, एच. राजेश्वर राव, अंडमानी बह्मै स्ट्रीट, कामकोटि नगर, विजयवाड़ा-520012
जे.एल.रेड्डी, बी-1/93 जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

महात्मा गांधी



श्रीमती शीला दीक्षित
मुख्यमंत्री, दिल्ली

शहीदी दिवस

दिल्ली सरकार
दिल दिल्ली - सपना अपने साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

शब्द बिंब

एक शहर का चेहरा

यह शहर इंतजार में गुम लोगों का शहर नजर आता। हर शख्स अपनी कीमती शय को ढूंढता हुआ-सा। इस शहर में हर शख्स का कुछ न कुछ गुम हो चुका था।...किसी के पास यात्रा थी लेकिन पांव गुम हो चुके थे।... किसी के पास पांव थे, लेकिन रास्ते खो गए थे। कस्बेनुमा शहर पर **ज्ञानप्रकाश विवेक** *का मार्मिक संस्मरण*

यह एक मामूली-सा शहर था—बेहद मामूली। इतना मामूली कि कई बार यह शहर गांव जैसा लगता तो कई बार कस्बे जैसा। कई बार यह शहर इतना खामोश नजर आता कि समाधि जैसा लगता। कई बार इतना पाक-साफ कि दरगाह जैसा लगता।

यह शहर, शहर जैसा कम लगता। शहर होने के बावजूद, यह शहर किसी रेलवे स्टेशन के मुसाफिरखाने जैसा लगता। और इस शहर के बाशिंदे? जैसे पुराने वक्त की गठरी बगल में दबाए, लकड़ी की हरी बैंच पर बैठे किसी नामालूम रेलगाड़ी के इंतजार में!

इंतजार करते हुए लोग खाली, लेकिन मसरूफ नजर आते। जैसे गोदो के इंतजार में व्लादीमिर और रेस्तांगांसा।

यह शहर इंतजार में गुम लोगों का शहर नजर आता। हर शख्स अपनी कीमती शय को ढूंढता हुआ-सा। अजीब बात थी। इस शहर में हर शख्स का कुछ न कुछ गुम हो चुका था।...किसी के पास धागा था, लेकिन सुई गुम हो गई थी। किसी के पास यात्रा थी लेकिन पांव गुम हो चुके थे। किसी के पास पांव थे, लेकिन रास्ते खो गए थे। किसी के पास जेबें थीं और सिक्के थे, लेकिन खर्च करने की इच्छाएं गुम हो गई थीं। कुछ लोग ऐसे भी थे जो दुकानों के सामने खड़े रहते। बहुत देर बाद वे अपनी इच्छाओं की मुरझाई हुई उंगलियां पकड़कर लौट आते। उनके पास जेबें थीं, लेकिन खाली।

शहर में ऐसे अनेक लोग थे जो हमेशा उदास रहते। वे अपनी हंसी को ढूंढते रहते। हंसी को ढूंढना इतना ज्यादा मुश्किल था जैसे अपने गिरे हुए आंसू को वापस आंख में रखना!

यह शहर, कम आवाजों का शहर था। कई बार यह शहर बहुत मार्मिक लगता। जैसे अपनी वेदना को लोरी सुना रहा हो।

यह शहर जिसका नाम बहादुरगढ़ था—किसी बहादुर खां का बसाया हुआ शहर था। बसने से पहले यहां परिंदे बस गए थे। हवाएं बस गई थीं और धूप! हवाएं जलते हुए चिरागों के साथ छुपम-छुपाई के खेल खेलतीं तो धूप पुराने मकानों की दीवारों पर सुनहरे अक्षरों में खुशआमदीद लिखती।

बहादुरगढ़ में एक किला था....एक नक्कारखाना...एक नवाब की हवेली। किला टूट-फूट चुका था। दीवारें गिर चुकीं थीं। कुछ बुर्ज थे— जिनके पैरों में इतिहास की थकान थी, जिनके चेहरे पर वक्त के निशान थे।

पहले जो किला था अब किला मौहल्ला बन गया था। किले मौहल्ले में सबके सब शरणार्थी—उनकी बोली, बानी और दुख एक जैसे। वे एक-दूसरे से मिलते। ठिठक जाते। जैसे वे बेघरी का मातम मना रहे हों। चुपजदा शख्स बोलने लगते। जैसे स्मृति की ऊन का गोला खुलता चला जाए। वे बहुत दूर चले जाते—मुल्तान...रावी... सिंध...डेरा इस्माइल खां...खजूर के दरख्त...रेत के टीले-टिब्बे....!

वे लोग पाकिस्तान छोड़ आए। यादें उठा लाए। और यादें उन्हें हमेशा तंग करतीं। आंखों में चुभतीं। आंसुओं की शक्ल में टपकतीं।

आखिर एक ऐसा वक्त आता जब वे बेसुरे लहजे में काफियां गाने लगते—

अपणा दस्स ठिकाणां / किधरों आया किधरों जाणां
जिस ठाणें का मांण करें तूं / ओहने नाल न जाणां
शहर खमोशां दे चल बसिए / जित्थे मुल्क समाणां
अपणा दस्स ठिकाणां !

उनकी काफियों में बेघरी की पीड़ा होती और जीवन-मृत्यु का दर्शन भी।

वे लोग आपस में ऐसे मिलते जैसे अजनबी शहर में अचानक और इत्तफाकन, कोई अपना मिला गया हो। वे मीठी और उदास जबान में बात करते। वे एक-दूसरे को कहते भी थे—

तिक्खा बोल किसी नूं वी बोलिए ना
तिक्खे बोल दा तिक्खा अखीर होंदा! (तिक्खा—कड़वा)

कुछ शहरों के अंदर निर्जन स्थापित हो जाता है जैसे कि यह शहर—बहादुरगढ़! इस शहर का वीरान-सा चेहरा था। ऐसा लगता, यह शहर, शहर नहीं, कोई 'रामचंदर जी' है और बनवास भोग रहा है।

यह शहर इतना गरीब था कि इतिहास ने बेदखल कर दिया था। यह शहर एक भूगोल था। इतना छोटा भूगोल जैसे कोई कलैंडर!...पृथ्वी की उंगली पर टंगा कलैंडर!

बहादुरगढ़ शहर के अपने देसी ठाठ थे। इतने देसी ठाठ कि कालोनी जैसा शब्द इस शहर के कोश में कहीं नहीं था। इस शहर में बस्तियां थीं— जैसे नई बस्ती... जैसे जटवाड़ा...जैसे किला मौहल्ला... जैसे झील मौहल्ला ...जैसे मांडोठी दरवाजा।

यह शहर एक तरह से कस्बा ही था। लेकिन कस्बा थोड़ा मुश्किल लफ्ज था। जबान पर नहीं चढ़ पाता था। इसलिए तमाम कस्बाई हरकतों, हरारतों, हुज्जतों और हदबंदियों के बावजूद लोग इसे शहर कहते।

इस शहर के लोग पुश्तैनी खुशियों और पुश्तैनी दुखों के साथ जीने के आदी थे। लोग इतने सरल कि अपनी मुफलिसी को अपना वैभव समझते। लोग इतने फक्कड़ कि संघर्षों पर ठहाके लगाते। लोग इतने मस्त कि मुस्कान की ओट में आंसुओं की दुकान भी सजा लेते।

यह एक सुस्त रफ्तार शहर था। इस शहर का सुस्त रफ्तार वाहन—बैलगाड़ी। बैलगाड़ी में गन्ने। गुड़। बैलगाड़ी में घर। रुका हुआ शहर! शहर में चलता हुआ घर! बैलगाड़ी में बसा घर!

थोड़ी-सी सड़कों वाला यह शहर...थोड़ी-सी इच्छाओं का शहर भी था। सड़कें एक सिरे से दाखिल होतीं, दूसरे सिरे पर खत्म!...जिंदगी दाखिल-खारिज

ज्ञानप्रकाश विवेक जाने-माने कथाकार हैं।

का नाम है। जीवन का होना या न होना—दाखिल के खेल जैसा।

इस शहर को देखने से ऐसा लगता जैसे बनाने वाला इसे अधूरा छोड़कर किसी जरूरी काम से कहीं चला गया है। आधा-अधूरा शहर....आधे-अधूरे सपनों और आधी-अधूरी आकांक्षाओं का शहर भी था।

शहर में इतने ज्यादा तालाब कि लोग चकित रह जाते। ऐसा लगता, तालाब इस शहर की गुल्लक है, जिसमें पानी के सिक्के जमा किए गए हैं। इस शहर में अनेक कुएं थे। ज्यादातर कुओं का पानी खारा था। खारे पानी की बात चलती तो लोग किस्से-कहानियां सुनाने लगते। लेकिन एक किस्सा सबकी जुबान पर था। एक प्यासे संन्यासी को जब किसी ने पानी नहीं पिलाया तो वह शाप देकर चला गया। संन्यासी फिर भी अच्छा था। उसने कुआं सूख जाने का शाप नहीं दिया था। पानी के खारा हो जाने का शाप दिया।

शायद उसके बाद प्याऊ बनाई गई हों। शहर में इतनी प्याऊ थीं कि बाहर से आए लोग हैरान रह जाते। इतने मंदिर नहीं थे, जितनी प्याऊ। प्यास का रिश्ता पानी से और पानी का रिश्ता प्याऊ से। कितनी खुशनुमा तौफीक थी! लोग-बाग तिश्नगी के मानी समझते थे। लोग-बाग दूसरे की प्यास में अपनी प्यास की तड़प महसूस कर लेते थे। इसलिए प्याऊ थीं। इसलिए मंदिर कम थे, प्याऊ ज्यादा...प्याऊ किसी मंदिर की तरह थीं और प्यास बुझाना किसी इबादत की तरह।

गुमटीनुमा प्याऊ में, गंगासागर से पानी पिलाता शख्स किसी दरिया की तरह लगता, किसी बादल की तरह या फिर किसी भजन की तरह।...पानी की धार के बीच एक रिश्ता होता—प्यास बुझाने वाले का रिश्ता, प्यासे के साथ।

यह शहर जिसका नाम बहादुरगढ़ था, किसी गुंबद की तरह लगता, जिसमें जिंदगी, किसी गुमनाम लय की तरह गूंजती महसूस होती और खामोश-सी आवाजें, सुबह-दम, नींद के मैले कंबल उतारकर नंगे पांव निकल पड़तीं। आवाजें कितनी अलग तरह की होतीं; जैसे खामोशी के थान पर, आवाजों के अलग-अलग बेल-बूटे।

हाली हल लेकर निकलते तो उनकी आवाजें। दूधियों के साइकिल टनटनाने की आवाजें। नक्कारखाने में परिंदों के पर फड़फड़ाने की आवाजें, कुएं से बाल्टी भरने की आवाजें।... आवाजें राम-राम की। आवाजें भजनों की। तार पर बैठी चिड़ियाओं की आवाजें। और सीढ़ियों से उतरती धूप की न सुनाई देने वाली आवाजें।

यह शहर बहादुरगढ़...कोलाहल का नहीं, मद्धम आवाजों का शहर था।

कई बार ऐसा लगता, आवाजें कटी पतंगों की तरह हैं जो नसीब के बुर्ज में अटक गई हैं या फिर नक्कारखाने के चबूतरे पर आ गिरी हैं।

इस शहर के पास सादगी किसी नेमत की तरह थी। सर्दियां किसी उत्सव की तरह। दिन-रात कोल्हू चलते गन्ने का रस और उसका गुड़! देहाती भी कितने फक्कड़ थे! उन्होंने एक ही गुरुमंत्र सीखा था—'भोले भाव मिले रघुराई'। वे बड़े-बड़े कड़ाहों में गुड़ जमाते। गुड़ की खुशबू दूर तक फैल जाती। किले मौहल्ले के तमाम बच्चे कोल्हू के पास जा खड़े होते—हतप्रभ-से। खाली हाथ कोई बच्चा न लौटता। सबकी जेब में गुड़ की डली होती। देहाती गुड़ के साथ-साथ आशीष भी देते—बणे रहो। खूब पढ़ो-लिखो। नाम रोशन करो।

बच्चे घर लौटते तो उन्हें लगता कि वे गुड़ की डलियों के साथ आशीष का एक-एक मंदिर भी अपने साथ ले आए हैं।

यह शहर, बहादुरगढ़...जिसके पास सिर्फ चार सड़कों का सरमाया था—रेलवे रोड नजफगढ़ रोड, बालोर रोड और झज्जर रोड।

लोग तबियत से फक्कड़, लहजे से अक्खड़ थे। लेकिन शऊर से दार्शनिक भी थे। सड़कों पर चलते-चलते रुक जाते। अपने आप से सवाल करते—रास्ते कहां जाते हैं?...रास्ते कहीं नहीं जाते, सिर्फ यात्री जाते हैं।

—यात्रा का रिश्ता सिर्फ पैरों से होता है? वे फिर सवाल करते।

—यात्रा का रिश्ता पैरों से होता है तो आप स्थान बदलते हैं। यात्रा का रिश्ता मन से होता है तो आप ध्यान-यात्रा में चले जाते हैं।

कभी-कभी यह खामोश-सा शहर ध्यान-यात्रा की तरह लगता था।

शहर में सिर्फ एक सिनेमा हॉल था—कुंदन! पिक्चर के दौरान जब बिजली गुल हो जाती तो लोग गुस्सा जाते। दर्शकों की भूमिका बदल जाती। वे खुद किरदार हो जाते—सीटियां बजाते। शोर मचाते। कुर्सियां थपथपाते हुए वे अपनी सक्रिय भूमिका निभाते—बिजली के लौट आने तक।...फिर यथावत! अंधेरा! पिक्चर! प्रेम! रोमांच! दर्शक! फंतासी! यथार्थ...

छह से नौ वाला शो अक्सर संशय में रहता। शो होगा या नहीं होगा, इसका पता बाद में चलता। छह वाले शो में बहुत कम लोग सिनेमा देखने आते। गृहिणियों को अपना चौका-चूल्हा संभालना होता था। वे इस शो में आना पसंद नहीं करती थीं। यह और बात कि यह समय सबसे शांत होता।..दुकानदार अपनी दुकानें छोड़कर कैसे आ सकते थे और नौकरीपेशा लोग स्टेशन से उतरते, साइकिलों को तेज-तेज चलाते हुए घर पहुंचते। सिनेमा से ज्यादा घर जरूरी था। घर इंतजार का नाम था और कशिश का भी।

कुंदन सिनेमा का मालिक टिकट खिड़की के पास खड़ा होकर, आस-पास छितरे लोगों पर सरसरी नजर दौड़ाता। अपने किसी कारिंदे को आवाज देता। कारिंदों में गेटकीपर, टिकट बांटने वाला, प्रोजेक्टर पर फिल्म चलाने वाला और शहर की दीवारों पर नई फिल्म के पोस्टर चिपकाने वाला—कोई भी शख्स हो सकता था।

शो देखने आए लोगों की गिनती शुरू होती। गिनती अलग-अलग लोग अलग-अलग तरह से करते। कुछ 'सिर' गिनते, कुछ 'धड़'। गिनती अक्सर गलत होती। लोगों की छोटी-सी भीड़ यहां-वहां सरकती रहती। गिनने वाला गच्चा खा जाता। शो रद्द हो जाता। वीरानी छा जाती। सन्नाटा पसर जाता। कुंदन सिनेमा का मालिक उदास नजर आता।

कुंदन सिनेमा के मालिक का मन कोई नहीं जान सका था। उसका चेहरा पत्थर की स्लेट जैसा था। लेकिन शो शुरू होने से पहले वह एक रिकार्ड कई बार बजवाता—चल उड़ जा रे पंछी, कि अब ये देस हुआ बेगाना...

कुंदन सिनेमा से पहले एक टीन-टप्पर का सिनेमा था— चलता-फिरता सिनेमा। यह बहुत पहले की बात है। उस सिनेमा का नाम— 'मोहन लाल टाकीज' था। मोहन लाल टाकीज दिल्ली-रोहतक रोड से कुछ दूर—खाली, उजाड़ स्थान पर स्थापित। एक विस्थापित सिनेमाघर...शहर के उजाड़ में स्थापित!

मोहन लाल टाकीज का मालिक मोहन लाल था— छोटे कद का बड़ा इंसान। मोहन लाल का चलता-फिरता सिनेमा था। लेकिन यह शहर या इस शहर का उजाड़ मोहन लाल को इतना पसंद आया कि सिनेमाघर के टीन-टप्पर गाड़े तो फिर उखाड़े ही नहीं।

जैसा सिनेमाघर, वैसा मोहन लाल—टीन-टप्पर जैसा। ढीला-ढाला। किसी सोच में गुम। किसी अहसास में डूबा। उंगलियों में चारमीनार की सिगरेट और किसी लावारिस यात्रा पर निकलता सिगरेट का धुआं और धुएं का पीछा करता मोहन लाल! यूं गुमान होता जैसे अपने भीतर की शख्सियत से गुफ्तगू कर रहा है जो लफ्जों से नहीं, चुप के जरिए होती है।

कई बार ऐसा भी लगता कि इस दुनिया का बाशिंदा नहीं...किसी अन्य ग्रह

पृष्ठ 41 पर जारी

दीर्घा

पंजाबी लोकगीतों की कोकिला : सुरिंदर कौर

पंजाबी की सुविख्यात लोकगायिका सुरिंदर कौर के बारे में बता रहे हैं **निंदर घुगियाणवी**

पंजाबी लोक संगीत लोकगायिका सुरिंदर कौर के योगदान रूपी ऋण को कभी चुका नहीं सकता। उन्होंने गायन के क्षेत्र में उस समय पदार्पण किया जिस समय गीत-संगीत को हेय समझा जाता था। लड़कियों के लिए गायन तो क्या, घर से बाहर निकलने की भी मनाही थी। सुरिंदर कौर ने बड़े ही साहस से लोक-गायन कला के क्षेत्र में प्रवेश किया। बाल्यावस्था में ही उनकी मधुर आवाज का जादू घर-घर फैल गया। 25 नवंबर 1929 को पिता बिशन दास और माता माया देवी के घर उनका जन्म हुआ। 29 जनवरी 1948 को सुरिंदर कौर का विवाह प्रोफेसर जोगिंदर सिंह सोढ़ी से संपन्न हुआ। दुर्भाग्यवश 1976 में प्रो. सोढ़ी अकस्मात स्वर्ग सिधार गए। सुरिंदर कौर जी की तीन सुयोग्य सुपुत्रियां हैं—डौली गुलेरिया, नंदिनी और प्रमोदनी। 1948 से सुरिंदर कौर ने भारत के आकाशवाणी केंद्रों से गाना आरंभ किया। देश के विभाजन से पूर्व सुरिंदर कौर तथा प्रकाश कौर के लोकगीत एच.एम.वी. कंपनी ने रिकार्ड किए। उनकी छोटी बहन नरिंदर कौर भी अच्छी गायिका थीं। सुरिंदर कौर तथा प्रकाश कौर के मिलकर गाए हुए गीतों एवं लोकगीतों की संख्या 500 के लगभग है। उन्होंने अन्य लोकगायकों के साथ युगलगीत भी प्रस्तुत किए। आशा सिंह मस्ताना तथा हरचरण सिंह गरेवाल के साथ प्रस्तुत उनके युगलगीत बहुत ही लोकप्रिय हुए। 1948 से 1953 तक वह मुंबई में रहीं। बाद में दिल्ली आ गईं। उन्होंने 22 फिल्मों में लगभग 59 गीत गाए। इन फिल्मों के नाम 'प्यार की जीत', 'लाल दुपट्टा', 'नदिया के पार', 'नाव', 'दादा', 'कनीज', 'शृंगार', 'राजरानी', 'खामोश', 'सिपाही', 'सुनहरे दिन', 'शादी की रात', 'बड़ी बहू', 'बुजदिल', 'आशियां' आदि हैं। उन्हें संगीत-नाटक अकादमी की ओर से 1948 में मद्रास में राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पंजाबी संगीत अकादमी, चंडीगढ़ की ओर से सन 2000 में उन्हें शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ लोकगायिका का पुरस्कार प्रदान किया गया। गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर ने सन 2001 में उन्हें डी.लिट. की मानद उपाधि से अलंकृत किया। भाषा विभाग पंजाब की ओर से उन्हें उनके 75वें जन्मदिवस पर 75,000 रुपये का पुरस्कार भी प्रदान किया गया।

सन 2005 की बात है। भाषा विभाग, पंजाब (पटियाला) की ओर से मुझे एक पत्र प्राप्त हुआ। सुप्रसिद्ध लोकगायिका सुरिंदर कौर के विषय में मुझे एक मोनोग्राफ (लघु-पुस्तिका) लिखने के लिए कहा गया था।

मैं सुरिंदर कौर जी से कभी मिला नहीं था, न ही मैंने उन्हें किसी कार्यक्रम में गाते हुए सुना था। हां, उनके द्वारा गाए गीतों को रेडियो या टेप रिकार्डर के माध्यम से अवश्य सुना था। 2001 में उनकी कनाडा यात्रा के अवसर पर टोरंटो रेडियो 'परदेसी' की ओर से सुरिंदर कौर के जीवन और उनकी गायन कला के विषय में एक संगीत रूपक अवश्य लिखा था।

उनके संगीत-रूपक में कोई कमी न रह जाए, इसलिए मैंने इधर-उधर से प्रकाशित-अप्रकाशित सामग्री संकलित करनी आरंभ की। आकाशवाणी केंद्र की ओर से प्रसारित उनकी एक लंबी बातचीत को बार-बार सुना तथा अखबारों और पत्रिकाओं में प्रकाशित साक्षात्कारों को भी पढ़ा। इसके बाद मैंने उनसे मिलने का मन बनाया। एक दिन मैंने उनके दिल्ली के फोन का नंबर मिलाया तो कंप्यूटर ने उत्तर दिया—'यह नंबर उपलब्ध नहीं है।'

कई दिनों तक इसी नंबर पर फोन करता रहा, परंतु उत्तर वही—'यह नंबर उपलब्ध नहीं है।'

किसी ने मुझे बताया कि पंचकूला में उनकी बेटी डौली गुलेरिया रहती हैं। उनसे सुरिंदर कौर जी के विषय में सब कुछ पता चल जाएगा कि वह आजकल कहां पर हैं। मेरे मोहाली निवासी एक मित्र गुरकृपाल सूरापुरी ने डौली गुलेरिया का फोन नंबर दे दिया। मैंने उसी नंबर पर फोन किया। उत्तर मिला—"हां, मैं डौली गुलेरिया का पति कर्नल गुलेरिया बोल रहा हूं।" कर्नल साहब ने कहा—"बीजी आजकल हमारे पास पंचकूला में ही रहती हैं।" दिल्ली से वह यहां आ गई हैं। आप उनसे मिलने के लिए, पूर्व सूचना देकर कभी भी आ सकते हो।"

फोन करने के दो महीने बाद, मैं कर्नल गुलेरिया को पूर्व सूचना देकर उनके निवास पंचकूला पहुंच गया। ऊंचे, लंबे कद वाले गुलेरिया जी अत्यंत गर्मजोशी से मिले तथा बहुत बड़े ड्राइंगरूम में जा बिठाया। कमरे का पूरा वातावरण कलामय था। खाकी रंग का सोफासेट, पुराने चित्र, लकड़ी की चौकियां, लाल और काली ईंटों की दीवारें, बल्बों की धीमी-सी रोशनी। डौली गुलेरिया बड़े तपाक से मिलीं। उस दिन उन्हें अपनी किसी रिकार्डिंग के लिए स्टूडियो जाना था तथा कर्नल साहब ने पूरा दिन मेरे लिए रखा था। डौली ने हमारे लिए चाय तैयार कर दी और स्वयं तैयार होने लगीं। मैं कभी इधर देखता, कभी उधर कि सुरिंदर कौर कहां हैं? चाय पीने के बाद कर्नल साहब ने कहा—"बीजी यहां नजदीक ही रहती हैं। उन्हें अलग घर लेकर दिया है, किराए पर। दिल्ली तो वह निश्चित तौर पर छोड़ ही चुकी हैं। दिसंबर में आई थीं यहां। और यहां इस घर में मैं और डौली रहते हैं। यह घर हमने स्वयं बनवाया था। भट्ठों पर जा-जाकर हमने ईंटें स्वयं पसंद की थीं। बीजी के लिए जीरकपुर के निकट एक नया घर बन रहा है। वहां का सारा काम मेरी देखरेख में चल रहा है। बीजी से हम बड़ी देर से कह रहे थे कि आप हमारे पास आकर रहें, हमें भी सेवा का अवसर दें।. ...और वे अब आ गई हैं। उनका घर दोमंजिला बन रहा है ताकि ऊपर का हिस्सा किराए पर दे सकें। किराया आ जाएगा। इसी से आय का साधन भी बना रहेगा। नीचे वाले हिस्से में बीजी रहेंगी।

"आइए निंदर जी, मैं आपको तस्वीरें दिखता हूं। जो भी आपको पसंद आएं, मुझे बता देना। मैं उन्हें आपके लिए सी.डी. में डलवा दूंगा।" इतना कहते हुए कर्नल साहब ने मुझे कंप्यूटर के आगे बिठा दिया। इस कंप्यूटर में उन्होंने सुरिंदर कौर तथा उनके परिवार की पैंतीस हजार आठ सौ पचास तस्वीरों को स्कैन करके सुरक्षित संभालकर रखा हुआ था। इसके साथ ही उनको मिले

निंदर घुगियाणवी पंजाबी के सुपरिचित लेखक हैं।



हमारी लोक संस्कृति आज जिस मुकाम पर पहुंची है उसमें लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोककथाओं, लोककलाओं, लोकमंचों और लोक साहित्य के क्षेत्र में सृजनरत साहित्यकारों, गायकों और विविध कला- विधाओं से जुड़े संस्कृतिकर्मियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस सांस्कृतिक परिदृश्य को खेल-जगत की ऐसी प्रतिभाओं ने भी पूर्णता दी है जिनके व्यक्तित्व और कौशल ने खेलों को भी कला की कमनीयता प्रदान की है। ऐसे अनेक मूर्धन्य लोक साहित्यकार, कलाकार और खेल-प्रतिभाएं हुई हैं जिन्होंने भारतीय जनमानस में गहरी पैठ बनाई है। इन महापुरुषों ने ऐसे मानक प्रस्तुत किए, जो भारतीय संस्कृति में रच-बस गए। **दीर्घा** लेखमाला के अंतर्गत ऐसे यशस्वियों तथा उनसे जुड़ी लोक विधाओं के बारे में चर्चा की जा रही है। बुल्लेशाह, गोनू झा, महेंद्र मिसिर, गामा, तीजन बाई, आग़ा हश्र काश्मीरी,वारिस शाह, राधेश्याम कथावाचक, हबीब तनवीर, उदयशंकर, शैलेंद्र के बाद इस बार का व्यक्तित्व हैं सुविख्यात लोकगायिका **सुरिंदर कौर**।

सम्मान-पत्रों को भी। लगभग एक घंटा हम काली-सफेद तस्वीरों को देखते रहे। किसी में सुरिंदर कौर का बचपन, किसी में जवानी और किसी में बुढ़ापा।

तभी फोन की घंटी बजी।

"हां जी, हम अभी आए।" कर्नल साहब ने फोन सुनकर कंप्यूटर बंद किया। यह फोन सुरिंदर कौर का था। चलो निंदर जी, बीजी तैयार हो गई हैं, हमें बुलाया है। मैं आपको वहां छोड़कर वापस लौट आऊंगा।"

कर्नल साहब के घर से उनका घर केवल सात मिनट का रास्ता था। हमने एक शांत और सजी-संवरी कोठी के आगे कार खड़ी की। कोठी के अंदर दाखिल हुए। कितने ही प्रकार के रंग-बिरंगे फूल टहक रहे थे। मैंने कहीं पढ़ रखा था कि सुरिंदर कौर जी को फूलों से बहुत प्रेम है। एक बुजुर्ग नौकर ने ड्राइंगरूम का दरवाजा खोलकर हमें बिठाया। अभी पानी पिया ही था कि मंद-मंद मुस्कराते हुए सुरिंदर कौर ने प्रवेश किया। मैंने उठकर उनके चरण छुए।

"जीते रहो, बच्चे, जीते रहो।" उनकी आवाज भारी थी। गीतों से एकदम अलग आवाज—जैसे किसी 'बूढ़ी नानी' या दादी की आवाज हो।

सुरिंदर कौर ने हल्का तोते रंग का सूट पहना हुआ था और पैरों में साधारण-से सैंडल। वे कुछ खा रही थीं जैसे छोटी इलायची हो। सिर के बाल काले रंगे हुए थे। हाथों में सोने के कंगन पहने हुए थे। दो एक तरफ, एक दूसरी तरफ। उन्होंने मेरी तरफ बड़े गौर से देखा तथा फिर मेरे छोटे-से बैग की तरफ।

"बेटा! आप फरीदकोट से हो ना? मुझे शरनजीत (कर्नल) ने बताया था कि तेरा गांव फरीदकोट है।"

"जी हां, फरीदकोट के निकट गांव है धुगियाणा।" मेरी बात सुनकर उन्होंने कहा—"हम भी बहुत बार फरीदकोट जा चुके हैं। मेरे सरदार जी (प्रोफेसर जोगिंदर सिंह सोढ़ी, वहां सरकारी बृजेंद्र कालेज, फरीदकोट में पढ़ाते थे।

"आप वहां रही भी थीं?" मैंने पूछा।

"नहीं बेटा, नहीं, रहे नहीं। वैसे कभी-कभी आते-जाते थे। प्रोफेसर साहब ही हर सप्ताह आ जाते थे।"

"आपकी सेहत कैसी है?" मैंने उनके पैरों की ओर देखकर पूछा—"यह आपके पैरों में सूजन कैसी है?"

"नहीं, बेटा नहीं, बनावट ही ऐसी है। सूजन नहीं है।" वह हंसने लगी।

"यह आप क्या खा रही हैं, बीजी?" मैंने उन्हें बीजी कहना आरंभ कर दिया।

"बेटा! यह सुपारी है। बहुत पुरानी आदत है सुपारी खाने की।" उन्होंने सुपारी को और अच्छी तरह चबाना शुरू किया।

"ओ पानदेव! ओ पानदेव!!" उन्होंने अपने नौकर को आवाज दी। मैंने उनके एक साक्षात्कार में पानदेव के बारे में भी पढ़ रखा था।

"यह तो बड़ा पुराना नौकर है आपका!" मैंने पूछा।

"बेटा! सच कहूं, पचास साल पुराना है। इसकी तीनों बेटियों की शादी मैंने की है। छोटा ही था, जब मेरे पास आया था। अब बूढ़ा हो गया है—नाते-नातियों वाला। इसका एक बेटा भी है। पहले काफी समय मेरे साथ दिल्ली में रहा, अब इसे यहां ले आई हूं। यह बहुत ईमानदार है। इसकी पत्नी भागवंती भी। वो सामने घूम रही है।"

पानदेव की पत्नी भी घर का काम-काज कर रही थी। पानदेव मेरे लिए ठंडा ले आया।

"ले बेटा! ठंडा पी। मैं तो ठंडा पीती नहीं।"

"आप दिल्ली से क्यों आ गईं? सारी जिंदगी तो आपने वहां काट ली!"

"बेटा! बात यूं है ना! आना एक मजबूरी बन गई। वहां मेरा घर मैट्रो-रेल के दायरे में आ गया तो हमें घर छोड़ना ही पड़ा था। 1948 में हम दिल्ली गए थे। 1947 में विभाजन के समय पाकिस्तान से आए थे। वहां से सीधे फिरोजपुर

आए। वहां मेरा भाई हरबंस सिंह पुलिस इंस्पेक्टर था। कुछ दिन गार्गी जी के पास रहकर हम बंबई चले गए। वहां मैं गाती रही। फिल्मों के लिए भी गीत गए। वहां की जलवायु मुझे अनुकूल नहीं लगी। 1954 में हम दिल्ली आ गए। उसके बाद मैंने सारी दुनिया घूम ली लेकिन दिल्ली नहीं छोड़ी। अब छोड़ दी है—पिछले साल। फिर डौली और (कर्नल) शरणजीत भी कह रहे थे, कि मामा हमारे पास यहां आ जाओ...।" दिल्ली के बारे में बताते हुए उन्होंने एक लंबी सांस ली। फिर थोड़ा-सा उदास हो गईं।

"चलो, बेटा! यह तो समय-समय की बात है। ठीक है, भगवान की इच्छा हो, जैसे भी हो, खुश रहना चाहिए। हां, तो जीरकपुर में बन रही है कोठी। मैंने सोचा कि मरूंगी तो पंजाब में। कहां तक चलती रहूंगी! मरूंगी अपने मायके में। बेटा, लोग मुझे दिल्ली वाली सुरिंदर कौर कहते हैं। मुझे यह सुनकर घबराहट-सी होती है। मुझे ऐसा लगता है जैसे किसी ने गाली दी हो। मैं पंजाबण—पंजाबी गीत गाने वाली, पंजाबियत की बात करने वाली और 'दिल्ली वाली'! पता नहीं, लोग किस मुंह से मुझे दिल्ली वाली कहते हैं? भला यदि कोई लड़की ससुराल चली जाए तो क्या वह मायका भूल जाती है? कैसे हैं ये लोग! चंडीगढ़ नाटक अकादमी ने मेरा सम्मान किया। सरदार प्रकाश सिंह बादल भी वहां आए। कहने लगे कि यह (सुरिंदर कौर) जहां कहेगी, हम घर ले देंगे।...बेटा! ये बातें काफी देर से सुन-सुनकर मैं दुखी हो चुकी थी। पहले ज्ञानी जैलसिंह आदि भी कई मुख्यमंत्री ऐसा ही कहते आए थे। मैंने उस दिन खूब खरी-खरी सुनाई। मैंने कहा—'सरकार की ऐसी की तैसी! मैंने किसी सरकार-सरकूर से मकान नहीं लेना। अपने बलबूते बनाऊंगी अपना घर। लोग खाली, खोखले दावे करते हैं। यदि कोई कुछ कर दिखाए तो फिर बात बनती है। मेरा घर सिलवर मिट्टी में जीरकपुर में बन रहा है... तू वहां भी आना, बेटा...अच्छा!" वह हंसीं। हंस ही रही थीं कि सामने वाले कमरे से हाय-हाय की आवाज सुनाई दी। वह एकदम उठकर भागीं। मैं हैरानी से देखने लगा और डर भी गया कि अचानक यह क्या हो गया? मैं भी उठकर खड़ा हो गया था। पानदेव सेवादार और उसकी धर्मपत्नी भागवंती भी भागकर उस कमरे में चले आए।

"क्या हुआ था यह?" मैंने अकस्मात पूछा।

सुरिंदर कौर जब वापस लौटीं तो उनका चेहरा उतरा हुआ था।

"बैठ बच्चे, बैठ! तू परेशान न हो! बच्चे, मैं तुम्हें बताती हूं...यह मेरी बड़ी बहन है। सबसे बड़ी है यह। मैं तो बच्चा हूं इनके सामने। बाकी सब तो चले गए....साथ छोड़ गए। यह बहन, बड़ी है मेरी। इसके पति का जल्दी ही स्वर्गवास हो गया। इसके कोई संतान नहीं है। अकेली थी। मैंने कहा—बहन, मैं ही तेरा सब कुछ हूं। मैं ही तुझे संभालूंगी। कई वर्षों से मेरे पास ही है। बीमार है। चारपाई पर लेटे-लेटे नीचे गिर जाती है। फिर रोती है, हाय-हाय करती है। मैं बहुत ध्यान रखती हूं। क्या करूं, बेटा...!" उन्होंने दुख-भरा निःश्वास छोड़ा और माथे पर से पसीना पोंछा।

"ओ पानदेव, सामने वाला कूलर चला दे, बच्चा...गर्मी लग रही है... चला दे कूलर, बेटा!"

मैंने उनके विषय में पढ़ा था कि वह अपने से छोटे को 'बच्चे' अथवा 'वे बच्चिया' कहकर संबोधित करती हैं। यह सत्य था, वह मुझे स्नेहपूर्वक बच्चे-बच्चे कहकर संबोधित कर रही थीं।

"बच्चे, मुझे सैर का बहुत शौक है। व्यायाम और योगा भी करती हूं। पूजा-पाठ भी। एक बात और, हमारा परिवार आरंभ से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। प्रातः उठकर पहले सभी भाई-बहन से सात-पनेंड़ीयां पाठ करते, फिर नाश्ता, जलपान आदि करते। हां, अब भी मैं साल में दो बार *श्री गुरुग्रंथ* साहब जी के दो पाठ स्वयं करती हूं अपने घर में। एक अपने घर-परिवार की सुख-शांति के लिए, दूसरा, अपने बुजर्गों (पूर्वजों) सोढ़ियों के लिए। मैं ग्रंथियों से पाठ नहीं करवाती। वे बीच-बीच में पाठ छोड़ देते हैं। मुझे गुरबाणी (शबद) गायन में बहुत आनंद आता है।" यह कहते हुए उन्होंने यह सबद गुनगुनाना आरंभ किया—*प्रभु जी तू मेरे प्राण अधारे।*

जब वे बातें कर रही थीं तो उनका स्वर और था लेकिन गाते समय उनका स्वर मधुर और परिमार्जित हो गया।

मैं उनसे लंबी-लंबी बातें कर रहा था। उन्होंने अत्यंत विनम्रता और उत्साहपूर्वक सब बातें बताईं। सब बातें मैं अपनी छोटी-सी मशीन में रिकार्ड कर रहा था। वह कभी टेप रिकार्डर, कभी मेरी तरफ, कभी छोटे-से माइक को देखते हुए मेरे सभी प्रश्नों के उत्तर दे रही थीं।

लगभग एक घंटा बीत जाने पर उन्होंने कहा—"बेटा, अब चाह-छाह पी लें। ओ, पानदेव, चाय बना ले, बेटा!"

"बच्चा, मैंने सैकड़ों गीत गाए हैं। लोकगीत, गीत, दो गाने तथा कई काव्य-शैलियां, अमृता (प्रीतम) को, शिव (कुमार बटालवी) को, किस-किस का बताऊं, सबको ही गाया है मैंने। लगभग 50 लोकगायकों और गायिकाओं के साथ दो गाने तथा अन्य गीत गाए हैं मैंने। 1943 में पहली बार लाहौर रेडियो स्टेशन से मेरा गीत प्रसारित हुआ था। मेरी पहली फिल्म 'शहीद' थी जिसके लिए मैंने गीत गाया था—'बदनाम न हो जाए मुहब्बत का फसाना।...' मैंने 50 से भी ज्यादा फिल्मों में गीत गाए। पंजाबी के अतिरिक्त मैंने गुजराती, मराठी, बंगाली, रूसी व चीनी गीत भी गाए। हिंदी में भी गाए। मैं विदेशों में भी गई—एक बार नहीं, कई बार। मेरी दो बेटियां—नंदिनी और प्रमोदनी विदेश (अमेरिका) में हैं। डौली यहां पर (भारत में) है। मेरे पति का 1976 में स्वर्गवास हो गया था। मैं टूट गई थी। संगीत ने मुझे शक्ति प्रदान की।"

पति का स्मरण आते ही उनकी आंखें नम हो गईं। फिर कहने लगीं—"बच्चा, मैंने एक गीत गाया था, तुमने सुना होगा—'महिरम दिला दे माही, मोड़ेंगा कदा मुहारां...।' मुझे और अधिक अच्छा लगने लगा। मैं इस गीत को गाते समय और अधिक उदास हो जाती...लेकिन मुझे लगता है कि यह गीत मैं सोढ़ी साहब के लिए गा रही हूं।"

उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास लेते हुए चुप्पी साध ली। मैंने अपना टेप रिकार्डर बंद कर दिया। पानदेव रसोई में मसाला भून रहा था।

"आ जा, बच्चे, पहले खाना खा लेते हैं....बाद में बाकी बातें करेंगे।"

हम खाने की टेबल के इर्द-गिर्द बैठ गए। पास ही छोटी मेज पर दो फोन सैट पड़े थे। मुझे उनके घर पर कई घंटे बीत जाने पर भी किसी फोन की घंटी सुनाई नहीं दी, मानो उनके फोन सैट सो रहे हों। कोई समय था, जब उन्हें फोन सुनने की फुर्सत नहीं होती थी। फोन उनके सहायक ही सुना करते थे।

पानदेव की पत्नी करेले का कटोरा रख गई।

"यह लो बच्चा, करेला खाओ। शरीर के लिए बहुत अच्छा होता है। ताकत वाला। मैं बड़े शौक से खाती हूं।" बीजी ने करेला मेरी प्लेट में रखते हुए कहा। मैं खाना खाने लगा। धुली हुई मूंग की दाल की चम्मच मुंह में डालते हुए सुरिंदर कौर ने कहा—"बच्चे, वो एक गीत है ना बड़ा पुराना, झंग ने गाया था—'जिंदगी मुकदी जांदी ए द', जान मेरी सुकदी जांदी ए...बस कोई चला गया...कोई चला जाएगा—अपनी-अपनी भोग के... हुण तां कट लई।"

वह धीरे से हंसी और गर्म चपाती को ठंडा करने लगीं।

"बीजी, आपकी किताब छपेगी। बहुत-से लोग पढ़ेंगे। लोग आपको बहुत प्यार करते हैं, बीजी!" मैंने कहा।

मेरी यह बात सुनकर वह कहने लगीं—"ओ बच्चा! तू कहां से चला आया है, मेरी जीवनी लिखने। मैं तो स्वयं हैरान हूं! लोग तो मुर्दों की पूजा

करते हैं! चलो, ... शाबाश! लिख, मैं भी देखूं।"

मैं जब भी उनके घर जाता तो वह या तो फूलों को देख रही होतीं या फिर पास खड़े होकर माली से काम करवा रही होतीं। वह बातें करती रहतीं, मैं उन्हें अपने टेपरिकार्ड में रिकार्ड करता जाता। बीच-बीच में वह अपनी बीमार बहन को देखने चली जातीं।

"सॉरी बच्चे, आपका टाइम वेस्ट किया। चलो, अब हम बातें करते हैं। बच्चा, मैं शेष जीवन मौज-मस्ती और आराम से गुजारना चाहती हूं। दोमंजिला मकान है....मेरा दिल चाहता है—मैं पंजाब में ही अंतिम सांस लूं।"

कई बार साक्षात्कार करने और कुछ चित्र एकत्रित करने के पश्चात मैंने पुस्तक लिखना आरंभ किया। पता चला कि बीजी बीमार रहने लगी हैं। जब कुछ पूछना होता तो फोन कर लेता था। उनकी धीमी-सी आवाज बड़ी कठिनाई से सुनाई देती। फिर वह फोन अपने सेवादार पानदेव को पकड़ा देतीं। वह मुझे बात समझा देता। भाग-दौड़ करके मैंने पुस्तक की पांडुलिपि तैयार कर ली। अब समस्या थी पुस्तक प्रकाशन की। भाषा विभाग की परियोजना थी लेकिन भाषा विभाग की तो 20-20 वर्षों की पांडुलिपियां प्रकाशनार्थ पड़ी थीं। सुरिंदर कौर चिंतित होकर कहने लगीं—"वे बच्चा, हम स्वयं ही पैसे खर्च करके प्रकाशित करा लें।" मैंने कोशिश जारी रखी और भाषा विभाग (पंजाब) का पिंड नहीं छोड़ा।

प्रेस और छापेखाने में कई चक्कर लगाकर दो महीनों में ही पुस्तक प्रकाशित हो गई। दो प्रतियां सुरिंदर कौर को कूरियर द्वारा भिजवाई। उनका फोन आ गया—"वे बच्चे, युग-युग जीते रहो! तूने तो मुझे जीवन दे दिया। मैं बहुत खुश हूं। शीघ्र ही आकर मिल जाना।"

जीवन की व्यस्तताओं के कारण मैं मिलने नहीं जा सका। दो महीने के बाद सुरिंदर कौर के दामाद कर्नल गुलेरिया का फोन आया—"निंदर, बीजी बहुत सख्त बीमार हैं...वे तुम्हें याद करती हैं। आ जाना।"

उन दिनों मैं 'जज का अरदली' की शूटिंग में व्यस्त था। जा नहीं सका। सुरिंदर कौर को भारत सरकार की ओर से 'पदमश्री' से अलंकृत करने की घोषणा हुई तो अपने दामाद से कहने लगीं—"मैं जा नहीं सकूंगी, बच्चा!" अंततः कर्नल गुलेरिया उन्हें व्हील चेयर पर बिठाकर ले ही गए। राष्ट्रपति ने उनके पास आकर उन्हें 'पद्मश्री' सम्मान से अलंकृत किया।

थोड़े दिनों बाद ही उनकी अमेरिका निवासी बेटियां—नंदिनी और प्रमोदनी उन्हें इलाज के लिए न्यू जर्सी (अमेरिका) ले गईं। कर्नल साहब का फोन आया—"बीजी वहां अस्पताल में दाखिल हैं। हालत बिगड़ रही है। उनका वहां मन नहीं लग रहा है।" उन्होंने रुंधे कंठ से यह कहते हुए फोन रख दिया।

15 जून 2006 की सुबह, अभी सैर करके घर में प्रवेश किया ही था कि कैलमिरी से रेडियो 'सुर संगम' से कुलदीप जी का फोन आया—"भाजी, बहुत ही बुरी खबर है...सुरिंदर कौर जी नहीं रहीं...आप उनके बारे में अभी कार्यक्रम प्रसारित करो!"

खबर सुनने के बाद मैं कुछ समय के लिए सुन्न-सा हो गया। उनसे हुए साक्षात्कार, आशीर्वाद तथा 'बच्चिया, वे बच्चिया' कहकर बुलाने के स्नेहिल अंदाज रह-रहकर उनकी याद दिला रहे थे। मैं बहुत ही उदास हो गया। मुझे अपनी नानी जी की याद आ गई। खबर की पुष्टि करने के लिए रेडियो का बटन दबाया तो उनका गीत प्रसारित हो रहा था—

मधानियां, हाय ओ मेरेया डाढया रब्बा
किन्हां जम्मीयां, किन्हां ने लै जानियां! ❑

संपर्क : गांव-डाक-धुगियाणा, जिला फरीदकोट, (पंजाब)

एक शहर का चेहरा

पृष्ठ 37 से आगे

से उतरा कोई ऐसा शख्स है, जो इस दुनिया के मिजाज को कभी नहीं समझ सका।

सिनेमा देखने वाले बहुत सारे लोग होते। लेकिन टिकट लेकर सिनेमा देखने वाले बहुत कम...या फिर आधे। टिकट खिड़की से टिकट खरीदकर सिनेमा देखना, शहर के बहुत सारे बदमिजाज लोगों को नागवार गुजरता। वे टीन की चादरों में जरा-सी जगह बनाते। पूरी मशक्कत के साथ अंदर घुसते। कभी कमीज फटती, कभी खरोंचों से जिस्म लहूलुहान हो जाता।

मोहन लाल किसी कोने में खड़ा इस 'तमाशे' को देखता रहता। मुस्कराता रहता। चारमीनार सिगरेट का छुआं उगलता हुआ मोहन लाल किसी को कुछ भी नहीं कहता था। लेकिन तब वह रंजीदा नजर आता जब किसी शख्स को ज्यादा खरोंचें लग जातीं या किसी शख्स की कमीज फट जाती।

मोहन लाल हकीकत में, छोटे कद का बड़ा इंसान था। जब कोई शख्स टीन की चादर को हटाकर सिनेमाघर में घुसने की सारी कोशिशों के बावजूद हार जाता तो मोहन लाल इस शख्स को बुलाता। अपनी जेब में रखे 'फ्री पास' पर अपने दस्तखत करता और उस शख्स को पास देते हुए कहता—"लो जनाब, आज का शो मेरी तरफ से देखिए।"

बंदा झेंप जाता। मोहन लाल मुस्कराता।

मोहन लाल अपने टीन-टप्पर के सिनेमाघर में कभी एक कोने में खड़ा हो जाता तो कभी टीन की चादरों से बने 'टाकीज' के चक्कर लगाता रहता। सिगरेट का धुंआ उगलता हुआ मोहन लाल जैसे अपने अकेलेपन के दर्द को भी उगल रहा हो। वह लोगों को टीन की चादरों से टाकीज के अंदर घुसते देखता तो मुस्करा देता। लोग उसके किरदार पर हैरान होते। वह लोगों पर हैरान होता। मुस्कराते हुए कहता—"अगर लोगों को टीन की चादरों से घुसकर फिल्म देखने में मजा आता है तो मैं इन लोगों के मजे में विघ्न क्यों पैदा करूं।"

टाकीज का मालिक मोहन लाल, अपने अंदर दुख का रंगमंच रखता था। इतना अकेला मोहन लाल कि उसका कोई सगा था तो अपना दुख! नाबीना सिगरेट के धुएं में वह अपने दुख की अदृश्य-सी तहरीर करता दिखाई देता। वह कम बोलने वाला शख्स, अपने अंदर बेहद कोलाहल रखता था। दिक्कत यह थी कि उस कोलाहल को सिर्फ मोहन लाल सुन सकता था। मोहन लाल के भीतर का कोलाहल बाहर की आवाजों से डरता था। इसलिए वह कम बोलता। सबसे कम। बस, प्रोजेक्टर चलाने वाले दीनानाथ के पास उस गुमटी में जा बैठता, जहां प्रोजेक्टर होता। दीनानाथ होता।

दीनानाथ जानता था कि मोहन लाल इतना गमगीन क्यों रहता है? मोहन लाल अपनी पत्नी से बहुत प्रेम करता था और किसी बात से खफा होकर वह चली गई थी। मोहन लाल बुलाने नहीं गया और वह खुद लौटकर आई नहीं। ...कुछ प्रेम इस तरह खत्म हो जाते हैं ... चुपचाप! शौक से तिनके चुनने वाले शान से नशेमन को बिखरता देखते हैं।

एक रात जब प्रोजेक्टर के स्पूल पर आखरी रील चल रही थी। दरअसल, वह मोहन लाल के जीवन की भी आखरी रील थी। दिल का दौरा पड़ा... वहीं। तड़पा मोहन लाल और फिर सब कुछ खत्म!...मोहन लाल भी फिल्म के उस सीन का हिस्सा बन गया जिसमें हीरो मर जाता है फिर कुछ नहीं बचता सिवाय दर्द के...सिवाय आंसुओं के....सिवाय यादों के...सिवाय मार्मिक किस्से के! ❑

[शीघ्र प्रकाश्य संस्मरण-पुस्तक *आउटर सिगनल* का अंश]

संपर्क : 1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507 (हरियाणा)

दिल्ली सरकार
दिल्ली दीन – दयाल हरे सरकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय



आओ मनाएं भारत पर्व

26 जनवरी 2010, भारतीय गणतंत्र के 60 गौरवपूर्ण वर्ष.

DIP/1720/09-10

AH-3/10/3

व्यंग्य

मैं सम्मानित होने से फिर वंचित

सम्मान प्रदान करने वाली फर्जी संस्थाओं पर **प्रदीप पंत** *की चुटीली टिप्पणी*

मेरी सैकड़ों रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, दो दर्जन से अधिक किताबें लिख डाली हैं, एक दर्जन किताबों की पांडुलिपियां तैयार हैं, पर अभागा हूं कि आज तक कोई पुरस्कार-सम्मान नहीं मिला। अपने समकालीनों को सम्मानित-पुरस्कृत होते देखता हूं तो मन में हूक-सी उठती है। कनिष्ठ सम्मानित-पुरस्कृत होते हैं तो दिल में आग लगने लगती है और पहले से ही बढ़ा हुआ ब्लड-प्रेशर और ऊपर चढ़ जाता है। मन के किसी कोने से आवाज आती है कि ब्लड-प्रेशर तुम्हारा खान-पान ठीक न होने और शहर के प्रदूषित पर्यावरण का परिणाम है, लेकिन मन के किसी दूसरे कोने से सुनने को मिलता है कि नहीं, तुम आज तक सम्मानित-पुरस्कृत नहीं हुए, इसीलिए ब्लड-प्रेशर के रोग से ग्रस्त और इसी कारण त्रस्त हो। शुभचिंतक किस्म के जो थोड़े-से दोस्त हैं, वे समझाते हैं कि देखो, सम्मान-पुरस्कार जोड़-तोड़ से मिलते हैं, उनके लिए दंद-फंद करनी पड़ती है, पुरस्कार-समितियों के सदस्यों को पार्टियां देनी पड़ती हैं जिनमें गरल वाला तरल अनिवार्य होता है। तुम हो नैतिकतावादी, सो यह सब तुम्हारे बस का नहीं, इसलिए पुरस्कारों-सम्मानों को भूल जाओ! मैं खुश होता हूं कि शुभचिंतक मुझे नैतिकतावादी घोषित कर रहे हैं। कोशिश करता हूं कि पुरस्कार-सम्मान प्रदान किए जाने का निमंत्रण-पत्र मिलता है तो मन में एक बार फिर हूक-सी उठने लगती है।

सोचता हूं, या तो यह निमंत्रण-पत्र मुझे चिढ़ाने के लिए भेजा गया है या समारोह में भीड़ बढ़ाने के लिए। एक बार फिर इच्छा जागने लगती है कि काश, मुझे भी सम्मानित-पुरस्कृत होने का मौका मिल जाता। कुछ अन्य दोस्तों को अपनी इच्छा के बारे में बताता हूं। वे समझाते हैं कि पुरस्कार-सम्मान वगैरह से तुम ऊपर उठ चुके हो। नीचे आने पर ही पुरस्कृत और सम्मानित हो सकोगे। नीचे आना चाहते हो तो बताओ।

मैं उत्सुकता से पूछता हूं कि नीचे कैसे आ सकता हूं?

वे हंसते हुए कहते हैं—"नीचे तभी आ सकते हो जब सरेआम और सरेशाम जुतियाए जाओ। ऐसा चाहते हो तो बताओ, हम तुम्हें कई फार्मूले बता सकते हैं। जैसे, इस बुढ़ौती में किसी जवान लड़की को छेड़ दो, वगैरह-वगैरह।"

मन होता है कि ऐसे दोस्तों को ही जुतिया डालूं।

फिर वे गंभीर स्वर में कहते हैं— "वैसे हमारे पास पुरस्कृत-सम्मानित होने के भी कई फार्मूले हैं।"

मैं कहता हूं— "एकाध बताओ।"

"तो सुनो!" वे बताते हैं— "हममें से सभी के बाप स्वर्गवासी हो चुके हैं। कुछ के नरकवासी भी हो गए होंगे। हम लोग किसी एक के बाप की स्मृति में संस्था बना लेते हैं। उस संस्था की ओर से तुम्हें लाख-दो लाख, चाहे जितने का भी पुरस्कार दिला देंगे।"

"आइडिया तो अच्छा है!" मैं कहता हूं— "जरा खोलकर बताओ।"

वे बताते हैं— "लाख-दो लाख क्या, दस-पंद्रह लाख का भी पुरस्कार दिलवा देंगे। बस, तुम्हें इतना करना है कि बैंक में अपनी किसी एफ.डी. को तुड़वाकर अपने नाम एक ड्राफ्ट बनवा लो। हममें से किसी के दिवंगत पिता की स्मृति में बनाई गई संस्था की ओर से बाकायदा एक समारोह में तुम्हारी आजीवन साहित्य सेवा के लिए 'लाइफ टाइम एचीवमेंट' के रूप में तुम्हें यह बैंक ड्राफ्ट पुरस्कार या सम्मान स्वरूप दे दिया जाएगा। कहीं कोई गड़बड़ी नहीं, कोई बेईमानी नहीं! तुम्हारा पैसा, तुम्हीं को वापस। बस, तुम्हें पांच-दस हजार रुपये समारोह के आयोजन पर खर्च करना होगा— हॉल की बुकिंग, श्रोताओं के जलपान और फूलों के गुलदस्तों आदि के लिए। किसी नामवर साहित्यकार से तुम्हें पुरस्कार दिलवाएंगे। लेकिन नामवर साहित्यकारों के साथ एक ही समस्या है कि वे समारोह में क्या बोल जाएं, पता नहीं। लेकिन उसकी काट भी है हमारे पास। अक्सर नामवर साहित्यकार अन्य वक्ताओं से एकदम विपरीत उद्‌गार प्रकट करते हैं। ऐसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम लोग तुम्हारे खिलाफ बोलेंगे। मजबूरन नामवर साहित्यकार को तुम्हारे पक्ष में बोलना पड़ेगा। टेप रिकार्डर पर, बल्कि वीडियो पर उसका भाषण रिकार्ड कर लेंगे। आजकल नामवर साहित्यकार उम्रदराज हो जाने के कारण वाचिक परंपरा वाले हो गए हैं। वे लिखित प्रशंसा नहीं करते, केवल बोलकर करते हैं। सो उनका बोला हुआ रिकार्ड कर लिया जाएगा, ताकि सनद रहे। और तुम उसे अपनी अगली किसी पुस्तक में छाप लेना।

मैं उनके सुझाव पर विचार करता हूं। तभी वे आगे कहते हैं— "एक विकल्प और भी है। किसी बूढ़े-खूसट साहित्यकार के बजाय चार-पांच युवा साहित्यकारों से भी तुम्हें एक साथ सम्मानित-पुरस्कृत कराया जा सकता है। पुरस्कार-सम्मान अर्पण के लिए वे दौड़े-दौड़े आएंगे और साहित्य सेवा के लिए तुम्हारी भूरि-भूरि प्रशंसा भी करेंगे। यों तो तुममें दुर्गुण ही दुर्गुण हैं, पर वे खोज-खोजकर तुम्हारे गुणों की चर्चा करेंगे। यह आजमाया हुआ नुस्खा है। हाल में एक वरिष्ठ लेखक ने एकमुश्त पांच कनिष्ठ लेखकों से अपनी एकमात्र पुस्तक का लोकार्पण करवाया। पांचों ने उसकी प्रशस्ति की।"

मुझे लगा, दोस्तों का आइडिया तो अच्छा है, मेरे पास बैंक में एफ. डी. भी है, उन्हें तुड़ाया भी जा सकता है, पर मेरी नैतिकता आड़े आ गई। मन ने समझाया कि सम्मानों, पुरस्कारों की चिंता छोड़ो; बस, तुलसी, सूर, कबीर की भांति साहित्य-साधना में लीन रहो। जीवित रहते तुलसी, सूर, कबीर को भी किसी ने नहीं पूछा, पर मरने के बाद सब उन्हें पूछते हैं, उन पर पी-एच. डी. करते हैं। हिंदी के कई अध्यापकों को तो रोजी-रोटी ही वही देते हैं। अध्यापक पद पर नियुक्त होने पर उन्होंने तुलसी, सूर, कबीर को जितना पढ़ाया था, उतना ही रिटायर होते समय भी पढ़ाते हैं। जाने कितने छात्रों को उन्होंने पी-एच. डी. कराकर तुलसीमय, सूरमय, कबीरमय बना दिया है। तुम्हारे साथ भी ऐसा ही होगा। एक बार मृत्यु को प्राप्त हो जाओ, फिर देखो कि तुम्हारे साहित्य की कैसी जय-जयकार होती है, कैसे हर विश्वविद्यालय के कोर्स में तुम चल आओगे, कैसे हर विश्वविद्यालय तुम्हारी रचनाओं पर छात्रों से पी- एच.डी. करवाएगा। संक्षेप में यह कि मरकर तुम अमरत्व को प्राप्त हो जाओगे।

प्रदीप पंत जाने-माने व्यंग्यकार हैं।

लेकिन मैं हूं कि अमरत्व को प्राप्त होने से डरता हूं और फिर से मन ही मन सोचना लगता हूं कि आखिर मुझे कोई सम्मान-पुरस्कार क्यों नहीं मिल रहा?

इधर पिछले कुछ दिनों से यह सवाल मन में बार-बार उठ खड़ा हो रहा था कि तभी एक दिन लगा, एक साथ कई संस्थाओं ने मेरी बात सुन ली है। एक ही डाक से तीन-तीन पत्र चले आए। तीनों न स्थानीय, न प्रादेशिक, न राष्ट्रीय, बल्कि सौ फीसदी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं। पहला पत्र किसी 'अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार परिषद' का, दूसरा 'अंतर्राष्ट्रीय साहित्य-कला संगठन' का, और तीसरा 'अंतर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन' का। पहले पत्र में लिखा था कि हमारा संचालन मंडल आपकी लेखनी से चमत्कृत है, आपकी हर रचना कालजयी है, इसलिए संचालन मंडल ने सर्वसम्मति से आपको 'अंतर्राष्ट्रीय साहित्य सम्मान' देने का निर्णय लिया है। पत्र में मुझे बधाई देते हुए बताया गया था कि परिषद के जीवन में ऐसा पहली बार हुआ है जब किसी साहित्यकार को 'अंतर्राष्ट्रीय साहित्य सम्मान' प्रदान करने का निर्णय सर्वसम्मति से लिया गया हो, अर्थात संचालन मंडल के किसी भी सदस्य ने आपके नाम का विरोध नहीं किया। मुझसे कहा गया था कि मैं सम्मान के लिए अपनी स्वीकृति तत्काल भेजूं। साथ ही यह भी आदेश दिया गया था कि 'स्वीकृति पत्र के साथ अपना एक चित्र, परिचय और एक हजार रुपये का बैंक ड्राफ्ट भेजना न भूलूं। दूसरे पत्र में 'अंतर्राष्ट्रीय साहित्य-कला परिषद' का विस्तृत परिचय दिया गया था जिससे पता चला कि दुनिया के हर छोटे-बड़े देश में परिषद की शाखाएं हैं। यहां तक कि जिन देशों तक संयुक्त राष्ट्र संघ नहीं पहुंच पाया था, वहां भी परिषद की शाखाएं थीं। परिषद के संरक्षकों में सबसे ऊपर जिले के कलक्टर का नाम था और मुझसे चित्र और परिचय के साथ दो रचनाओं और मात्र पंद्रह सौ रुपये के बैंक ड्राफ्ट की मांग की गई थी। तीसरा पत्र पोस्टकार्ड में था। उसमें मुझे वह सूचना भी दी गई थी, जिससे मैं सहसा अपने को अंतर्राष्ट्रीय महसूस करने लगा था। सूचना यह कि मुझे सम्मानित करने की संस्तुति इंग्लैंड, फ्रांस, रूस, अमरीका, चीन आदि के कई विद्वानों ने भी है। अतः संस्था मुझे 'अंतर्राष्ट्रीय लेखक सम्मान' से विभूषित करना चाहती है, जिसके लिए मैं चाहूं तो अपना परिचय व चित्र भेज हूं और चाहूं तो न भेजूं, किंतु संस्था के नाम से पांच सौ रुपये का बैंक ड्राफ्ट तत्काल स्पीड पोस्ट या कूरियर से चलता कर दूं।

तीनों पत्रों को पढ़कर मैं अभिभूत! मुझे यह जानकर भी अच्छा लगा कि जहां दो संस्थाएं क्रमशः पंद्रह सौ और एक हजार रुपये में मुझे अंतर्राष्ट्रीय सम्मान प्रदान कर रही हैं, वहीं तीसरी संस्था दुनिया-भर के विद्वानों की संस्तुति के बावजूद मुझे मात्र पांच सौ रुपये में ही निबटाने के लिए तैयार है। कोई उदार हृदय लेखक होता तो तीनों संस्थाओं से अंतशस्ति सम्मान झपट लेता, पर मैं बेहद कंजूस हूं। इसी कंजूसी की आदत के चलते मैंने तीनों संस्थाओं को तत्काल उत्तर भेज दिए कि चित्र व परिचय वगैरह तो ठीक, किंतु सम्मानित-पुरस्कृत होने के लिए रुपये क्यों दूं?

उधर से तीनों संस्थाओं के उत्तर भी तत्काल आ गए। तीनों के पत्रों में एक ही बात अलग-अलग शब्दों में लिखी थी, जिसका सार-संक्षेप यह कि यदि सहयोग-राशि न ली जाए तो लेखक सम्मान-पुरस्कार का महत्त्व नहीं समझते और उन्हें जो प्रशस्ति-पत्र डाक से भेजा जाता है, उसे वे घर के ओनों-कोनों में फेंक देते हैं या फिर बच्चे उन पर भांति-भांति की चित्रकारी कर डालते हैं। यह सब अनुभवजन्य है। हमें जो प्रशस्त्रि-पत्र मुफ्त में मिले, उन पर हमारे बच्चों ने भी चित्रकारी कर डाली; जिन प्रशस्ति-पत्रों के कागज पतले थे, बच्चों ने उनके हवाई-जहाज बनाकर आसमान में उड़ा दिया या फिर नौका बनाकर घर की गली में जमा पानी में तैरा दिया। यों भी वह सम्मान-पुरस्कार भला किस काम का, जिसे मुफ्त में प्राप्त किया जाए! तीनों पत्रों में यह भी लिखा गया था कि संस्थाओं के पदाधिकारी मेरे लिए खास तौर पर रियायत कर रहे हैं, इसलिए मैं मांगी गई सहयोग-राशि से सौ-पचास रुपये कम भेज सकता हूं।

मुझे पत्र पढ़कर अच्छा लगा कि देखो, तीनों संस्थाएं एक ही लाइन पर सोच रही हैं, जब कि तीनों पत्र अलग-अलग शहरों से आए थे। मन में यह भी शंका पैदा हुई कि कहीं यह किसी एक ही गुट का काम तो नहीं है? या क्या पता, कुछ समझदार साहित्य-सेवियों ने अलग-अलग शहरों में तीन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं खोल दी हों। लेकिन दूसरे ही पल मन ने धिक्कारा कि तुम एक ओर अपने को बड़ा लेखक मानते हो, पर दूसरी तरफ तुम्हारी सोच इतनी घटिया है! धिक्कारे जाने के बाद मैंने घटियापन से तो मुक्ति पा ली, लेकिन मेरे अंदर का कंजूस फिर जाग खड़ा हुआ और मैंने फिर पत्रोत्तर दे दिए कि क्षमा करें, फोटो, परिचय और पूर्व प्रकाशित रचनाओं में से दो-चार भेजने को तैयार हूं, किंतु सहयोग-राशि कतई नहीं भेज सकता। उधर से फिर एक जैसे तीन पत्र आ गए कि हमें भी क्षमा करें, अब आप सहयोग-राशि भेजेंगे तो भी हम स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि हम आप जैसे कंजूस को लेखक ही नहीं मानते। सम्मानित-पुरस्कृत होना चाहते हैं तो कुछ टेंट ढीली करना सीखिए। वैसे, इधर आपकी कुछ रचनाएं हमारे निर्णायकों के हाथ लग गई थीं, जिनकी उन्होंने जांच-परख की और वे इस नतीजे पर पहुंचे कि आपके लेखन में कोई दम नहीं है, जबकि हम दमदार लेखकों को ही सम्मानित-पुरस्कृत करते हैं।

एक जैसे पत्रों में आगे बताया गया था आपके शहर में केवल तीन ही दमदार लेखक रहते हैं और उन्होंने हमें पचास-पचास हजार रुपये के बैंक ड्राफ्ट भेजे हैं, ताकि उन्हें शानदार समारोह आयोजित करके सम्मानित-पुरस्कृत किया जा सके। यह राशि सम्मान-पुरस्कार राशि से अलग है। सम्मान-पुरस्कार राशि भी वही भेज रहे हैं। यह राशि कितनी है, समारोह के बाद समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाली खबर में पढ़ लीजिएगा। अभी से बता देंगे तो आपको दिल का दौरा पड़ जाएगा। उन्होंने यह भी हिदायत दी है कि पैसे कम पड़ें तो और भेज दिए जाएंगे, लेकिन समारोह में कोई कसर नहीं रहनी चाहिए। जानते हैं, ये लेखक कौन हैं? ये हैं कारपोरेट जगत के एक सेठ जी, एक तस्कर और एक दुर्दांत डाकू। ठीक है कि सेठ जी ने कारपोरेट जगत की गलाकाट स्पर्धा में अपने कुछ प्रतिद्वंद्वियों का सचमुच गला काट दिया, यह भी सच है कि तस्कर ने देश की अर्थव्यवस्था को भारी क्षति पहुंचाई है और इसमें भी कोई शक नहीं कि दुर्दांत डाकू शासन-प्रशासन के लिए चुनौती बना हुआ है, लेकिन रोजी-रोटी चलाने के लिए यह सब उनके व्यक्तिगत जीवन का अंग है। हम तो इन विभूतियों को इसलिए सम्मानित कर रहे हैं, क्योंकि इन्होंने अपने व्यक्तिगत दुस्साहसिक कार्यों से प्राप्त अनुभव के आधार पर जिस साहित्य की रचना की है, वह अद्भुत और कालजयी है। पत्रों में यह भी बताया गया था कि तीनों की पुस्तकों के दस-दस संस्करण एक ही वर्ष में हाथों-हाथ बिक चुके हैं। तीनों पत्रों में आदेश-सा देते हुए मुझसे कहा गया था कि अब मैं आगे कोई चिट्ठी-पत्री लिखकर संस्थाओं के पदाधिकारियों का समय नष्ट न करूं, क्योंकि वे सेठ जी, तस्कर और दुर्दांत डाकू को सम्मानित-पुरस्कृत करने के लिए आयोजित होने वाले समारोहों की तैयारी में व्यस्त हैं।

मैं सम्मान-पुरस्कार पाने से एक बार फिर वंचित हो गया हूं और सोच रहा हूं कि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं चलाने वाले तो भागयवान हैं ही जिन्हें ऐसी महान विभूतियों को सम्मानित-पुरस्कृत करने का सुअवसर मिला है, साथ ही वे प्रकाशक भी सौभाग्यशाली हैं जिन्हें उनकी अनुभवजन्य पुस्तकें प्रकाशित करने को मिली हैं। ❑

संपर्क : सी 2/31-ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-10065

कृति प्रसंग

दाराशुकोह—व्यक्तित्व एवं परिप्रेक्ष्य

अनीता शर्मा

'वसुधैव कुटुंबकम्' जैसी वृहद संस्कृति की आकाशगंगा में दाराशुकोह एक जगमगाता धूमकेतु है जिसकी चमक समय की धूल भी धुंधला नहीं सकी। आज जहां हमारे देश में अलगाववाद, आतंकवाद, धार्मिक कठमुल्लापन से लड़ने की मुहिम जारी है—अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी; तब ऐसे में दाराशुकोह जैसे कालजयी व्यक्तित्व हमारे प्रेरणा स्रोत हैं। यों भी कहा जाता है कि इतिहास स्वयं को दोहराता है और यह बात गंगा-जमुनी तहजीब की विरासत वाली भारतीय संस्कृति के लिए प्राचीनकाल से वर्तमान तक में खरी उतरी है। सभी इतिहासकार इस तथ्य पर एकमत हैं कि शहंशाह जलालुद्दीन अकबर ने समूचे भारत को अपनी सूझ-बूझ, सहिष्णुता और दूरदर्शिता से एक बनाया और मुगल वंश के साम्राज्य को उसे एक बड़े बरगद के रूप में रोपा जिसकी छांव में उनकी आने वाली पीढ़ियां—जहांगीर व शाहजहां—पलीं, पनपीं व पूर्ण संतुलित विकास के सोपान पर मजबूती से चढ़ीं। वहीं पर औरंगजेब की कटट्र राजनीति असहिष्णुता, धार्मिक कट्टरता (कठमुल्लापन की हद तक) ने उस बरगद की जड़ों को खोखला करके गिराने में कुछ ही दशक लगाए।

शाहजहां की लाड़ली संतान—दाराशुकोह यदि मुगल साम्राज्य की बागडोर संभालता तो भारत और शेष विश्व का इतिहास निश्चित रूप से सुनहरा व मानवता की भावना से ओत-प्रोत होता। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि इतिहासकार विजेता व पराजित को ही केंद्र में रखकर आमजन को सूचित, शिक्षित करते रहे हैं परंतु समाज को एक समान विकसित करने की क्षमता रखने वाले प्रणेताओं का स्थान सदैव से ही गौण-सा रहा है और दाराशुकोह भी इसका अपवाद नहीं है। वस्तुतः दाराशुकोह—एक शहजादा, शुद्ध, समाजसुधारक, समाजशास्त्री, लेखक, सूफीमत की ओर प्रवृत्त, धर्मों की मूल बोधी दृष्टि से संपन्न एक व्यक्तित्व नहीं है; जिसे समय की गति व परिवर्तन अपनी गिरफ्त में लेकर समाप्त कर दे या फिर इतिहास बना दे, वरन वह तो एक विश्वस्तरीय संस्कृति व सोच है, जो नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, सामरिक व अन्य स्तरों पर, आज भी अपने स्वीकारे जाने की बाट जोह रहा है ताकि संपूर्ण विश्व को एक गांव, एक धर्म, एक ईश्वर के अनुयायियों के रूप में पिरोकर एकजुट रख सके। परंतु आज भी इसको मनसा, वाचा, कर्मणा स्तर पर आत्मसात करके क्रियान्वित करना एक चुनौती व लक्ष्य दोनों ही है। ऐसे में इस युगपुरुष— दाराशुकोह पर कोई लेखनी उठाए तो कौतूहल सहज ही हो उठता है।

भारतीय ज्ञानपीठ ने दाराशुकोह पर जाने-माने लेखक मेवाराम द्वारा लिखा एक वृहद उपन्यास प्रकाशित किया है। आज के संदर्भों में इतने बड़े उपन्यास को छापना एक साहसिक ही नहीं वरन लीक से हटकर स्तुत्य प्रयास है। यों भी आज टेलीविजन, कंप्यूटर व इंटरनेट के घालमेल, भागमभाग, तनावपूर्ण जीवन में बड़े-बड़े कथानकों व उपन्यासों के दिन अब नहीं रहे। तिस पर भी इतने बड़े कालजयी ऐतिहासिक पात्र को केंद्र में रखकर उपन्यास छापना एक भागीरथ प्रयास नहीं तो और क्या कहा जाएगा?

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने पाठकों के पास कम समय की विवशता को समझा है। तभी तो उपन्यास के प्रथम अध्याय में ही भूमिका/प्राक्कथन जैसी परंपरा की इतिश्री करके बेहद संक्षिप्त, सारगर्भित ढंग से संपूर्ण उपन्यास का ब्लूप्रिंट यानी सार कुछ खोजी, तीखे प्रश्नों को माध्यम से पाठकों के लिए लिखा गया है। बहुत ही रोमानी, रहस्यमयी शुरूआत और फिर साहित्यिक गरिमा से परिपूर्ण भाषा, संवाद, वातावरण, इतिहास के संदर्भों को ढाला गया वर्णन पाठकों को पूरा उपन्यास मनोयोग से पढ़ने को तैयार व तत्पर करता है। ऐसे ही प्रयास होने भी चाहिए तभी साहित्यिक अभिरुचियों को जिंदा रखने की अहम कवायद वास्तविकता की सीढ़ियां चढ़ेगी।

लेखक ने दाराशुकोह के चरित्र के विभिन्न पहलुओं को उसकी आयु व घटनाक्रम के साथ बेहद नैसर्गिक रूप से उभारा है तथा बाद में उसकी हत्या/मृत्यु के बाद पाठकों के मन-मस्तिष्क में असहिष्णुता, धर्मांधता, कट्टरता व संकीर्णता के प्रति वितृष्णा व विद्रोह पैदा करने का सफल प्रयास भी किया है। दाराशुकोह एक शहजादा जिसे विभिन्न विद्वानों, यथा— पंडित जगन्नाथ से संस्कृत, मुल्ला अब्दुल लतीफ से *कुरआन* एवं फारसी काव्य ग्रंथ, इतिहास की शिक्षा मिली। महान सूफी संत सरमद के साथ-साथ मुल्ला शाह बदख्शी, शेख मुहिबुल्ला इलाहाबादी, शाह दिलरुबा और शेख मुहसिन फानी जैसी आध्यात्मिक-दार्शनिक विभूतियां दाराशुकोह के साथी ही नहीं, वरन उसके युग के सहधर्मी भी बने।

किसी भी उपन्यास की मूल शक्ति संवाद, भाषा और वातावरण होते हैं और इन कसौटियों पर यह उपन्यास खरा उतरा है। ऐतिहासिक चरित्रों पर केंद्रित उपन्यासों में बहुधा व्यक्तिपूजक अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन सत्य से परे की अति नाटकीयता से पढ़े-सुने जाते हैं, परंतु यहां पर लेखक ने केवल एक स्थान को छोड़कर अपने दायित्वों का निर्वाह पूरे न्यायपूर्ण व तर्कसंगत ढंग से किया है। पाठकों की जानकारी के लिए एकमात्र ऐसा प्रसंग—दाराशुकोह के परदादा शहंशाह अकबर और ओरछा राज्य की नृत्यांगना रायप्रवीण का शाहजहां के बेटे-बेटी जहांआरा व दाराशुकोह से बातचीत करना व निम्न दोहे को सुनाना अति नाटकीयतापूर्ण लगता है —

विनती रायप्रवीण की, सुनिए शाह सुजान
जूठी पातर भखत हैं, बारी, बायस, स्वान।

लेखक ने मुगलकाल के विभिन्न बादशाहों, शहजादों, शाहजादियों, ख्वाजा सराओं इत्यादि की दिनचर्याओं को बहुत करीब से देखने का मौका पाठकों को दिया। उदाहरण के तौर पर शाहजहां की विभिन्न बेगमों, रखैलों, कनीजों का सिलसिलेवार ब्यौरा बहुत ही रोचक व तथ्यात्मक ढंग से दिया गया है। दाराशुकोह ने न केवल बहुत-सी पुस्तकें लिखीं वरन बहुत-से कीमती ग्रंथों शास्त्रों को अनूदित भी करवाया या अनुवाद कराने में मदद की। उनकी लिखी हुई पुस्तकों में *सकीनत-उल-औलिया, रिसाल-ए-हकनुमा, अकसीर-ए-आजम, मजमुअ-अल-बहरैन* तथा हिंदू-मुस्लिम धर्म के तुलनात्मक अध्ययन पर केंद्रित *सिर्रे अकबरी*। हिंदू धर्मग्रंथ वेद, बावन उपनिषदों के संस्कृत से फारसी में अनुवाद को समेटे है। ये पुस्तकें आज के संदर्भ में कालजयी होने की क्षमता रखती हैं।

दाराशुकोह : मेवाराम; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-३; पृष्ठ संख्या : 868; मूल्य : 600 रुपये।

लेखक ने उपन्यास के मुख्य पात्रों के साथ-साथ अन्य पात्रों का सामंजस्य बैठाकर सभी पात्रों का चित्रण यथार्थ के धरातल पर शोध के आलोक में किया है। इसी कड़ी में शाहजहां, उनकी बेगम मुमताज महल, बेटे—दाराशुकोह, शुजा, मुराद और विशेष रूप से औरंगजेब, बेटियों—जहांआरा, रौशनआरा, बूंदी के राजा छत्रसाल, बल्ख का शहजादा नजाबत खां, दाराशुकोह की हिंदू प्रेमिका राणादिल के साथ उपन्यास की सूत्रधार, सूफी संत शिरोमणि सरमद का वर्णन सहज, सरस शब्दों में किया है।

यों भी शक्ति, मद, अहंकार का मेल आपसी रिश्तों-संबंधों का रक्तरंजित होना, शराबो-शबाब की अधिकता, चाटुकारिता व अय्याशी की जुगलबंदी, कर्त्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, सर्वधर्म समानता का समाप्त होना हमारे देश के इतिहास के मुगल काल की विशेष प्रवृत्तियों में से एक है और लेखक ने इन्हीं कुरीतियों पर निर्मम प्रहार किया है। दाराशुकोह की हत्या व शहजादे औरंगजेब के गद्दीनशीन होने की घटना को संजोकर बादशाह की मृत्यु होने की इतिवृत्तात्मकता के सोपान पर उपन्यास का समापन करके पाठकों को एक उत्तरदायित्वपूर्ण सोच के साथ विदा करना यह रेखांकित करता है कि दाराशुकोह का जीवित रहना हिंदुस्तान की बादशाहत तथा हमारे देश व विश्व के इतिहास के लिए कुछ और ही होता, जहां धार्मिक कट्टरता, कठमुल्लापन, अलगाववाद, आतंकवाद जैसे शब्द न तो शब्दकोष में कहीं मिलते और न ही इनका कोई ऐतिहासिक अस्तित्व रहता। ❑

चुका नहीं है स्त्री का देते जाना

भारतेंदु मिश्र

इन दिनों सभी भाषाओं में प्रेम और सौंदर्य की बहुत सारी कविताएं देखने को मिल रही हैं। पिछले महीने एक पत्रिका का प्रेम-गीत अंक भी पढ़ने को मिला। सवाल यह है कि आज का कवि जो प्रेम के पक्ष में कविता लिख रहा है, उसका नव्यता की दृष्टि से क्या महत्त्व है क्योंकि प्रेम कोई नया विषय नहीं है। तात्पर्य यह कि यांत्रिक जीवन में प्रेम की अरज और लरज यदि कहीं बाकी है तो यह बड़े सुख और संतोष की बात है। यदि यह उत्तर आधुनिकता की प्रवृत्ति के रूप में पुनर्प्रस्तुतीकरण की अवधारणा का हिस्सा है तो भी काव्य की भाषा और कवि-समय के नवाचार प्रतीक और रूपक के माध्यम से सहज रूप में प्रकट होने चाहिए। प्रेम की भाषा अस्फुट ध्वनियों से ही चीन्ही जा सकती है। असल में प्रेम है ही अव्यक्त भाषा।

इस बार शीर्षक कविता संग्रह सुनीता जैन की नई कविताओं का संकलन है। ये कविताएं समकालीन नारी विमर्श और गृहरति की व्यंजना से प्रेरित प्रतीत होती हैं। अच्छी बात यही है कि कवयित्री ने प्रेम के पक्ष में ये जो अनेक कविताएं लिखी हैं, उनमें प्रेम की विभिन्न वैयक्तिक छवियों के साथ नारी जीवन के अनेक रंग-रूप भी हैं।

सुनीता जैन मूलतः अंग्रेजी की विद्यार्थी रही हैं और उन्होंने अमेरिका में रहकर पढ़ाई की है, यह तथ्य उनकी कविताओं से भी साफ झलकता है। कवयित्री के अनुभव में पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की छवियां उभरती हैं। परंतु ये कविताएं हिंदी में हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी शब्द संपदा और अपना सौंदर्यशास्त्र होता है। कवयित्री की काव्य भाषा जहां कहीं सध गई है, वहां कविताओं में चमक पैदा हो गई है—*साठ इंच पानी में तैरती अकेली / जब वह बाहर आई / सतह पर जल की / वह देख रहा था बाट उसी की / सूरज ने भर ली बांहों में बढ़कर / भीगी झंगुलिया मछरी की।*

प्रेम का यह नैसर्गिक बिंब, देखिए, किस रूप में ढल गया है। संग्रह की अच्छी कविता है यह। रोमांटिक कविता के युग में भी ऐसी तमाम कविताएं लिखी गई थीं। इस कविता में कवयित्री ने जो रूपक गढ़ा है, वह बेहद लौकिक है। सूरज मछरी की भीगी हुई झंगुलिया को बांहों में भर रहा है न कि मछरी रूप आत्मा को। यदि कवयित्री मछरी को बांहों में भरने की बात करती तो प्रेम का अद्भुत बिंब बन पाता। अभी तो यह संभोग का बिंब उभारता हुआ-सा लगता है। अब दूसरी ओर स्त्री-विमर्श की दृष्टि से देखें तो इस कविता का नया पाठ इस रूप में भी किया जा सकता है कि यह कविता स्त्री की उस मनोदशा की ओर संकेत करती है जहां पुरुष शिकारी है और स्त्री शिकार।

संकलन की पहली कविता 'कांटों-भरी बेल' में सुनीता जैन कहती हैं—*उसने अपनी भाषा को किया नरम दूब-सा/ उसने अपनी हथेली को किया फूल-सा/ उसने छुपा लिया अपने ही भीतर / अपना सारा असला/ वह आंखों में लाई आंजकर / एक प्रति संसार गहरा/ वह स्त्री थी प्रेम में/ खिल रही थी कांटों-भरी बेल में।*

कवयित्री का यह काव्य रूपक अधिक प्रभावी होकर उभरता है। स्त्री का कांटों-भरी बेल में प्रेम सहित खिलना कांटों की टहनी पर लरजते हुए गुलाब की ओर संकेत करता है। इस कविता की भाषा में नवाचार साफ तौर पर देखा जा सकता है। संग्रह की कई कविताएं संवाद के शिल्प में उभरती हैं। इसी प्रकार 'वह लाया' शीर्षक कविता अपने आप में बहुत कुछ कह जाती है—*वह लाया कई तरह के उपकरण / एक छोटी डिब्बी में लाल रंग / कांच को लाया वह कलाई-सा गोल पिघलाकर/वह लाया थोड़ी-सी चांदी कूटकर/ थोड़ा सोना तपाकर/ थोड़ा-सा सूत भी लाया कातकर / सबसे अंत में वह लाया अपने नाम का एक हिस्सा / स्त्री का नाम संग गांठकर /अब स्त्री की बारी थी देने की बदले में कुछ / स्त्री का देना नहीं—देते जाना / चुका नहीं है आज तक।*

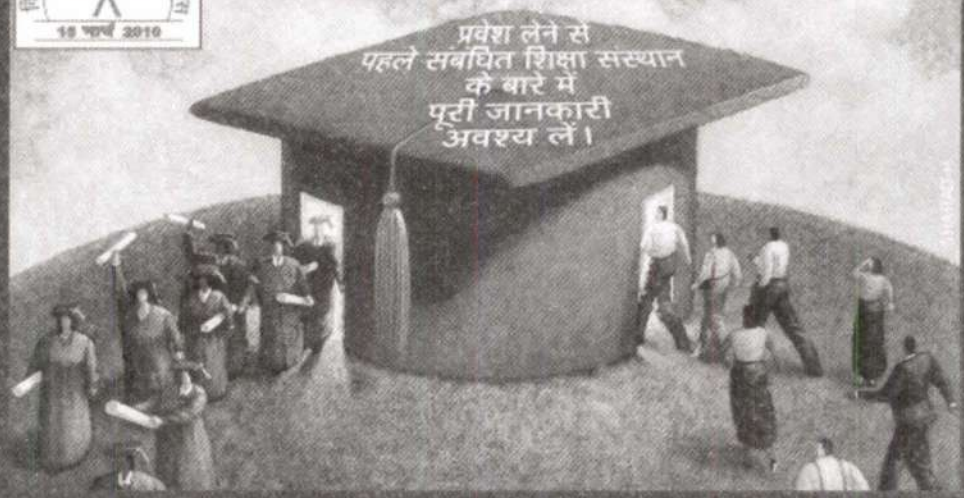
एक बात यहां यह भी ध्यान देने की है कि इन कविताओं में कहीं बच्चे नहीं हैं। दलित निम्न मध्यवर्ग की स्त्रियों के प्रणय बिंब भी नहीं दिखाई देते हैं। स्वाभाविक है कि इन कविताओं में उभरे प्रणय बिंब कवयित्री के निजी अनुभवों पर केंद्रित हैं। कहीं-कहीं भाषायी स्खलन कविताओं को असहज बना देता है। इस सबके बावजूद 'पीठ', 'नाश्ता', 'पड़ाव', 'शुक्ला' जैसी कुछ और कविताएं न केवल पठनीय बल्कि उल्लेखनीय भी हैं।

इस बार : सुनीता जैन; सरस्वती विहार, हिंदी पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली;

भविष्य उज्ज्वल होगा
जब चुनाव सही होगा

जागो ग्राहक जागो

विश्व उपभोक्ता अधिकार दिवस
15 मार्च 2010



डिग्री/डिप्लोमा अथवा इंस्टीट्यूट की मान्यता संबंधित जानकारी के लिए संपर्क करें



लॉग ऑन करें :–

- मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार (www.education.nic.in)
- विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (www.ugc.ac.in)
- अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् (www.aicte.ernetin)
- राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् (www.aiuweb.org)
- भारतीय विश्वविद्यालय संघ Council (NAAC) (www.naacindia.org)
- भारतीय चिकित्सा परिषद् (www.mciindia.org)
- दूरस्थ शिक्षा परिषद् (www.dec.ac.in)

NATIONAL CONSUMER HELPLINE 1800-11-4000

उपभोक्ता इन नम्बरों पर भी सम्पर्क कर सकते है :
राष्ट्रीय उपभोक्ता हेल्पलाइन सं. (1800–11–4000 प्रशुल्क मुक्त) (बीएसएनएल/एमटीएनएल से)
011–27662955, 56, 57, 58 (सामान्य कॉल प्रभार लागू)
(पूर्वाहन 9.30 बजे से अपराह्न 5.30 बजे तक – सोमवार से शनिवार।

जनहित में जारी :

उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय
उपभोक्ता मामले विभाग, भारत सरकार,
कृषि भवन, नई दिल्ली - 110 001, वेबसाइट : www.fcamin.nic.in

विमर्श

कविता में प्रयोगवाद

प्रयोगवाद छायावादोत्तर कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। डा. रामविलास शर्मा ने समझाने की कोशिश की है कि छायावाद के बहुत सारे तत्त्व इन कवियों में विद्यमान थे। लेकिन यह भी सही है कि इन कवियों ने छायावादी कल्पना के संसार को ध्वस्त कर क्षुद्र या तुच्छ तत्त्वों को ज्यादा महत्त्व दिया था। बता रहे हैं **भारत यायावर**

नामवर सिंह ने बीसवीं शती के पांचवें दशक में जब हिंदी साहित्य के क्षेत्र में कदम रखा, तब तक प्रगतिवाद स्थापित हो चुका था और *तार सप्तक* के प्रकाशन के साथ हिंदी कविता में 'प्रयोगवाद' नामक एक नई काव्य-प्रवृत्ति उभरकर सामने आ गई थी। इन्हीं प्रयोगवादी कवियों का बाद में नई कविता के अंतर्गत भी उल्लेख किया गया। नामवर सिंह ने नई कविता का विश्लेषण करते हुए *कविता के नए प्रतिमान* नामक पुस्तक की रचना की। इसके पूर्व उन्होंने 'प्रयोगवाद' पर भी विस्तार से विचार किया है। वह बताते हैं कि 'प्रयोगवाद' नाम चलने का कारण *तार सप्तक* के संपादकीय तथा कुछ अन्य वक्तव्य हैं। इस संज्ञा के बीज वहीं हैं। उनमें 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' को साफ शब्दों में अपनी विशेषता कहा गया है। मालूम होता है, पाठकों ने इन कवियों के 'प्रयोग-प्रयोग' के लटके को पकड़ लिया और उनकी कविताओं को 'प्रयोगवाद' नाम दे दिया। यह 'प्रयोग' शब्द अंग्रेजी कविता में प्रचलित 'एक्सपेरिमेंट' के ही वजन पर हिंदी में चला था, लेकिन हिंदी में जो 'प्रयोगवाद' चल पड़ा, उसके लिए अंग्रेजी में 'एक्सपेरिमेंटलिज्म' नामक कोई वाद नहीं है। *(आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां,* पृष्ठ 113-114)

'प्रयोगवाद' की विशेषताएं बताते हुए नामवर सिंह आगे बताते हैं कि इससे कुछ लोगों का तात्पर्य केवल 'रूपवाद' अथवा 'फॉर्मलिज्म' है, लेकिन 'रूपवाद' प्रयोगवाद की एक शाखा-मात्र है। सभी प्रयोगवादी कवि केवल रूप-विधान तथा टेकनीक पर ही ध्यान नहीं देते। ऐसे कवि और ऐसी रूपवादी कविताएं थोड़ी हैं। 'प्रयोगवाद' कोरे रूपवाद से अधिक व्यापक प्रवृत्ति तथा विचारधारा का वाहक है जिसमें थोड़े-थोड़े-से अंतर के साथ अनेक ह्रासोन्मुखी मध्यवर्गीय मनोवृत्तियां और चिंतन-धाराओं का समावेश हो गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद उत्तर-छायावाद की समाज-विरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढ़ाव है। (वही, पृष्ठ 115)

प्रयोगवादी कविता व्यक्तिवाद के दो सीमांतों के बीच फैली हुई है—इसमें एक है कवि का अपने मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति असंतोष और दूसरा जन-जागरण से डरे हुए कवि की आत्म-रक्षा की भावना। छायावाद के साथ जिस व्यक्तिवाद का गौरवशाली आरंभ हुआ था, उसका 'प्रयोगवाद' में दयनीय पर्यवसान हो गया। (वही, पृष्ठ 120-121)

तात्पर्य यह कि प्रयोगवादी कविता व्यक्ति की इयत्ता, उसकी मानसिक उलझन, उसके उद्वेग और कुंठाएं, साथ ही व्यक्तिगत असंतोष की बानगी का एक दस्तावेज बनकर रह गई।

यह बहुत आश्चर्य का विषय है कि जिस प्रगतिवाद के समानांतर *तार सप्तक* के कवि हिंदी कविता की एक नई धारा निर्मित कर रहे थे, उनमें अधिकांश मार्क्सवादी विचारधारा के थे। फिर भी वे किसी भी 'सिस्टम' या 'वाद' को मानने से इंकार करते थे। वे कविता की स्वायत्तता पर जोर देते थे। इस संदर्भ में नामवर सिंह ने लिखा है—'वाद के विरुद्ध विद्रोह प्रयोगशील कवियों की पहली विशेषता है। *दूसरा सप्तक* की भूमिका में अज्ञेय ने साफ कहा है कि प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम 'वादी' नहीं रहे, नहीं हैं। सामान्यतः इसका अर्थ केवल साहित्यिक वाद का निषेध समझा जाता है। लेकिन 'वाद' का विरोध करते हुए प्रयोगशील कवि राजनीतिक या दार्शनिक किसी भी 'वाद' का निषेध करते हैं, वाद अर्थात मतवाद या सिस्टम। प्रयोगशील कवि यह मानते हैं कि किसी 'वाद' को मानने से व्यक्तिगत एवं स्वतंत्र विचार में बाधा पड़ती है क्योंकि विचार की दृष्टि से 'वाद' एक तरह की बंद विचार-प्रणाली है। प्रयोगशील दृष्टि का सूत्रपात ही इस धारणा से हुआ कि पूर्वनिश्चित कोई भी वाद सत्य तक पहुंचने या पहुंचाने में समर्थ नहीं है।' (वही, पृष्ठ 115)

मार्क्सवादी विचारों के कवियों के इस धारा से जुड़ने के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए आगे वह बताते हैं कि कुछ लोगों को यह बात विचित्र लग सकती है कि यदि 'वाद' के विरुद्ध विद्रोह प्रयोगशील जीवन-दृष्टि की पहली विशेषता है तो अपने को मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट कहने वाले कवियों ने प्रयोगशीलता का पथ कैसे अपनाया? एक 'वाद' को मानते हुए वाद या 'सिस्टम' का क्या मतलब हो सकता है? इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि मार्क्सवाद स्वयं के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के 'सिस्टम-बिल्डिंग' या 'वाद-निर्माण' का विरोधी है, इसलिए मार्क्सवादी इस विचारधारा को 'दर्शन' न कहकर 'विज्ञान' कहते हैं, जो वस्तुतः 'गाइड टु एक्शन' है। संभव है कि आरंभ में इस विश्वास के कारण ही मार्क्सवादी एवं गैर-मार्क्सवादी कवि एक बुनियाद पर स्थित हुए हों। किंतु प्रयोगवाद के परवर्ती इतिहास से स्पष्ट है कि प्रयोग के दौरान जिन्हें मार्क्सवाद और प्रयोगशीलता में विरोध दिखाई पड़ा, उन्होंने दो में से एक को छोड़ दिया। अधिकांश ने प्रयोग के लिए मार्क्सवाद को छोड़ दिया। (वही, पृष्ठ 116)

जिन कवियों ने प्रयोग के लिए मार्क्सवाद को छोड़ दिया, उनमें प्रमुख हैं—नेमिचंद्र जैन, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रघुवीर सहाय आदि। इनमें शमशेर एवं मुक्तिबोध दो ऐसे कवि हैं जो प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद के बीच संतुलन साधे रहे। रामविलास शर्मा ने तो कविताई छोड़कर आलोचना एवं इतिहास के विश्लेषण में ही अपना जीवन लगा दिया। अज्ञेय प्रयोग के रास्ते चलते हुए 'कलावाद' तक पहुंचे एवं विचारशून्यता को प्रश्रय देते हुए नव रहस्यवादी हुए।

1954 में जब नामवर सिंह प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद पर विचार कर रहे थे, तब ये दोनों काव्य-प्रवृत्तियां बिल्कुल नई थीं। इन कविताओं की परख में अनेक अड़चनें थीं। लेकिन अपनी गहरी अंतर्दृष्टि के कारण नामवर सिंह ने इन दोनों काव्य-प्रवृत्तियों की सही पहचान की एवं इनका बारीकी से मूल्यांकन किया। यही कारण है कि उनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि किसी भी काव्य-आंदोलन में शामिल अनेक कवियों के अनेक

भारत यायावर सुपरिचित लेखक हैं।

रंग होते हैं। उनमें जितना साम्य होता है, उतना ही वैषम्य। उनके व्यक्तित्व एवं सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां भी उनके कृतित्व के निर्माण में सहायक होती हैं, और उनमें कुछ विशेषताएं भी पैदा कर देती हैं। इसलिए हर कवि की निजी इयत्ता हमें दिखाई पड़ती है।

नामवर सिंह प्रयोगशील कवियों की विशेषताओं को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं– 'प्रयोगवाद के आरंभिक युग में जब अज्ञेय मध्यवर्गीय परिवृत्ति के विरुद्ध वैयक्तिक असंतोष उगल रहे थे, नेमिचंद्र, गजानन मुक्तिबोध और भारत भूषण अग्रवाल काव्य-क्षेत्र में आए। अज्ञेय की तरह इन कवियों में भी घोर असंतोष था किंतु अज्ञेय के विपरीत इन कवियों में अपनी मुक्ति के लिए नवीन जन-आंदोलन से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा भी थी। इसलिए इन कवियों में अज्ञेय के असंतोष से थोड़ा भिन्न एक नए ढंग की 'कशमकश' दिखाई पड़ती है। यह 'कशमकश' है–'संस्कार और विवेक की, आत्मस्थ होने की चाह की–असमर्थता को विवेक द्वारा चीर डालने' की कशमकश। नेमि और मुक्तिबोध में यह कशमकश अधिक तीव्र तथा मार्मिक है और इन दोनों कवियों में भी मुक्तिबोध में 'सक्रिय जीवन-शक्ति' और अधिक है। प्रयोगवाद के विकास-क्रम में कुछ दिनों बाद शमशेर और काफी दिनों बाद रघुवीर सहाय आए। जहां रघुवीर सहाय में इस अंतर्द्वंद्व के फलस्वरूप मर्मस्पर्शी दर्द और शक्ति अर्जित करने की वास्तविक आकांक्षा अधिक है तो शमशेर में यह अंतर्द्वंद्व स्पष्टतः विभाजित दो व्यक्तियों के रूप में स्थायी बन गया है जिसमें अपने-अपने ढंग से जनवादी और वैयक्तिक दो प्रकार की भावनाएं कविता का रूप ले लिया करती हैं– निःसंदेह एक कोरे कर्त्तव्य-पालन के रूप में और दूसरी अनुभूति-प्रवणता के रूप में। प्रयोगवाद के अंतिम दिनों में भारती, सर्वेश्वर जैसे भावुक कवि आए जिनके जन-आंदोलन-भीरु मन को 'नदी के द्वीप' वाला फलसफा कवच की तरह मिल गया। सर्वेश्वर जब 'घास काटने वाली मशीन' के खतरे बताते हैं और भारती अनुलिखि 'शंका' उठाते हैं तो वे करुण स्वर में 'नदी के द्वीप' का ही भाष्य करते हैं। प्रयोगवादी कवियों में प्रभाकर माचवे और गिरिजाकुमार माथुर दो ऐसे कवि हैं जिनकी विचारधारा स्पष्ट नहीं है अथवा कम-से-कम जिन्होंने अपनी अनुभूति को निश्चित विचार-प्रणाली का रूप नहीं दिया है।' (वही, पृष्ठ 127-129)

प्रयोगवाद छायावादोत्तर कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। डा. रामविलास शर्मा ने बहुत सारे उदाहरण देकर यह समझाने की कोशिश की है कि छायावाद के बहुत सारे तत्त्व इन कवियों में विद्यमान थे। लेकिन यह भी सही है कि इन कवियों ने छायावादी कल्पना के संसार को ध्वस्त करके क्षुद्र या तुच्छ तत्त्वों को ज्यादा महत्त्व दिया था। इसलिए प्रयोगशील कवियों की छायावाद से एक दूरी दिखाई पड़ती है। नामवर सिंह इसकी पहचान करते हुए निम्नलिखित अंतर को उद्घाटित करते हैं–

1. प्रयोगवाद का उदय ही मोहभंग से हुआ इसलिए इसमें छायावादी कल्पनाशीलता के विपरीत यथार्थवाद का आग्रह अधिक था। कल्पना के द्वारा छायावाद ने जिन वस्तुओं को उदात्त रूप दे रखा था, उसकी क्षुद्रता के उद्घाटन में प्रयोगवादी कवि को विशेष प्रकार का आनंद मिलने लगा।

2. छायावादी कवि प्रायः प्रकृति की मोहक पृष्ठभूमि में अथवा सुंदर प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से नारी की छाया-प्रतिमा निर्मित करते रहे, लेकिन प्रयोगवादी कवि ने यहां भी अप्सरामयी नारी को स्वप्नस्थित गरिमामय पद से उतारते हुए सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया और इस तरह नारी-सौंदर्य के उपमान भी स्वभावतः पदच्युत हो गए।

3. प्रकृति और नारी के प्रति प्रयोगवाद का यह आरंभिक दृष्टिकोण यथार्थ के नाम पर वस्तुतः नग्न यथार्थवाद अथवा 'नेचुरलिज्म' है। काल्पनिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया में यथार्थवाद प्रायः शुरू-शुरू में ऐसा ही नग्न रूप लेता है। इस उच्छृंखलता के मूल में व्यक्तिवाद की ही अराजक मनोवृत्ति है। इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप छायावाद का छुई-मुई-सा प्रेम अब मांसल रूप में प्रकट होने लगा। जहां पहले यह सिद्धांत था कि 'सौंदर्य केवल देखने की वस्तु है, छूने की नहीं,' वहां प्रयोगवादी कवि ने उसे एकदम छूने की परिधि में खींच लिया।

4. गंभीर समझी जाने वाली वस्तुओं और मान्यताओं के प्रति हल्का ढंग और हल्की समझी जाने वाली चीजों और बातों के प्रति गंभीर रुख–ये दोनों ही यथार्थवाद के दो पहलू हैं। प्रयोगवाद में ये दोनों बातें मिलेंगी। यदि एक ओर उसने छायावादी आदर्शों की खिल्ली उड़ाई तो दूसरी ओर 'गरम पकौड़ी' और 'चाय की प्याली' को गौरवान्वित किया।

5. यथार्थवादी दृष्टि प्रायः भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा करती है। जिस प्रकार छायावाद के आरंभिक दिनों में कैशोर्य भावुकता एक प्रकार से अलंकृति थी और उसे कवि-कर्म का बीजमंत्र माना जाता था, उसी प्रकार प्रयोगवाद के आरंभ काल में भावुकता मूर्खता का पर्याय हो गई। कवि अपने तथा अपने परिवेश के विषय में इतना सतर्क हो गया कि हर जगह वह बौद्धिकता के रक्षात्मक कवच के साथ आने का अभ्यस्त हो चला। हर बात में उसे 'रेशनलाइजेशन' की आदत पड़ गई। 'हरी घास पर क्षण भर' की अनुभूति लिखते समय संभव था कि छायावादी कवि भावुकतावश भावनाओं में बह जाता, लेकिन यहां अज्ञेय ने बौद्धिक ढंग से ही अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है।

6. प्रयोगवादी कवि में बौद्धिकता आरोपित नहीं है, बल्कि सामाजिक दबाव का सहज परिणाम है। यदि छायावादी कवि ने सामाजिक भय से अपने मानवीय प्रेम को रहस्यात्मक जामा पहनाया तो प्रयोगवादी कवि ने उसे बौद्धिकता के आवरण में रखा, लोग जो आरोप करते हैं उसे स्वयं ही कहकर कवि ने लोगों को अपनी साहसिकता और निर्भीकता से जैसे हतप्रभ कर दिया। इस बौद्धिकता के परिणाम-स्वरूप प्रयोगवादी कवि के प्रतीकों और उपमानों में भी छायावादी कैशोर्य भावुकता का बहिष्कार दिखाई पड़ता है।

7. मनःस्थिति-चित्रण में प्रयोगवादी कवियों ने पहले से बारीकी दिखाई है। यह छायावाद-युग के बहु-प्रचलित शब्द 'अनुभूति' और प्रयोगवाद के 'संवेदना' के अंतर से ही समझा जा सकता है, पर्याय प्रतीत होते हुए इन दोनों शब्दों की अर्थच्छायाओं में सूक्ष्म अंतर तो है ही।

हर दौर की कविता अपनी नूतनता या नवाचार के कारण अलग से पहचानी जाती है। प्रयोगवाद छायावाद से आगे की कविता थी और उसने अपना कायाकल्प इतना अधिक कर लिया था कि बाद में उसे 'नई कविता' के नाम से जाना जाने लगा। प्रयोगवादी कवि ही आजादी के बाद नए कवि के रूप में अभिहित हुए। यह कविता छायावाद से एक प्रस्थान थी। इसीलिए नामवर सिंह ने छायावाद से हटकर इसकी विशेषता की पहचान की।

अंत में वह प्रयोगवादी कविता के ऐतिहासिक महत्त्व को निम्नलिखित कारणों से रेखांकित करते हैं–

1. प्रयोगवादी कविताएं ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र हैं। इनमें मध्यवर्गीय हीनता, दीनता, अनास्था, कटुता, अंतर्मुखता, पलायन आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।

2. प्रयोगवादी कवि साहस के साथ अपने व्यक्ति-मन और व्यक्ति-मन के माध्यम से मध्यवर्गीय समुदाय की दुर्बलताओं का उद्घाटन कर रहे हैं,

पृष्ठ 51 पर जारी

फिल्म

पुरस्कार के लिए साहित्य की जरूरत

फिल्मों में पुरस्कार प्राप्त करने के लिए साहित्य का आश्रय लेना ही पड़ जाता है। पुरस्कार की अपेक्षा करने वाली फिल्मों में साहित्य की आवश्यकता की चर्चा कर रहे हैं **राधेश्याम**

हालीवुड के संवेदनशील निर्माता और निर्देशकों में आस्कर पुरस्कार की सूची में शामिल होने की ख्वाहिश जरूर होती है इसलिए वे अपने जीवनकाल में साहित्यिक या लोकप्रिय उपन्यासों पर आधारित एकाधिक फिल्मों को परदे पर जरूर उतारना चाहते हैं। यही कारण है कि प्रतिवर्ष आस्कर प्रतियोगिता में कुछ ऐसी फिल्में जरूर शामिल हो जाती हैं जो फार्मूले से हटकर होती हैं, जिन्हें साहित्यिक कहा जाता है। भले ही वैसी फिल्मों को साहित्य नहीं कहा जाता लेकिन वे साहित्य की नजर से जरूर देखी जाती हैं। साहित्य एवं लोकप्रिय उपन्यासों पर आधारित इस वर्ष हालीवुड में आधा दर्जन से भी अधिक फिल्में रिलीज की गईं, जिसे समीक्षक एक बेहतर शुरूआत के रूप में देखते हैं। लेकिन यह कहना कठिन होगा कि फिल्में बेहतर थीं या औपन्यासिक कृतियां? उदाहरण के लिए माग्रेट मिशेल का 1024 पृष्ठों का उपन्यास पढ़ने में ज्यादा अच्छा लगता है या 222 मिनट की लंबी फिल्म दर्शकों को पसंद आती है। उसी प्रकार शरतचंद्र का मौलिक उपन्यास अच्छा था या 1957 में विमल राय द्वारा बनाई गई 'देवदास' या 2004 में संजय लीला भंसाली की 'देवदास' फिल्म– यह कहना कठिन होगा।

ऐसी सुखद प्रतीति बालीवुड में नहीं होती। अव्वल तो बीसवीं सदी के फार्मूले की फिल्मों को ही दुहराया जाता है या हालीवुड की कापी कर ली जाती है। ऐसी फिल्मों के निर्माण में जिस कल्पनाशीलता की जरूरत होती है, उसका सर्वथा अभाव है। 2005 में ले-देकर हिंदी में विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' पर आधारित एकमात्र फिल्म 'पहेली' बनाई गई थी जिसे चाहें तो साहित्य से जोड़कर देख सकते हैं। इस पर पहले भी फिल्में बनाई जा चुकी हैं लेकिन उसका आलेख प्रभावी न होने के कारण आस्कर में अपनी जगह नहीं बना पाया क्योंकि इस वैज्ञानिक युग में इस तरह की फिल्में बनाकर आस्कर चयन समिति को प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'ब्लैक', जिसे गोल्डन ग्लोब के लिए चयन किया गया था, किसी भी क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में सफल नहीं हो पाई। अंतर्राष्ट्रीय गुणवत्ता हासिल करने के लिए निर्णय को बहुत ज्यादा कठोर बनाना पड़ता है। संभव है कि अभिताभ बच्चन या शाहरुख खान का भारत में बड़ा नाम हो लेकिन अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भी उनके नाम का सिक्का चले, जरूरी नहीं।



फिल्म 'देवदास' में दिलीप कुमार और सुचित्रा सेन

वैसे भी जब साहित्यिक और लोकप्रिय पुस्तकों पर फिल्में बनाई जाती हैं तो दर्शकों और पाठकों की एक राय नहीं होती। जिस फिल्म को आप मात्र दो घंटे में देख लेते हैं, उपन्यास को पढ़ने में कई दिन या कभी-कभी दो-दो सप्ताह लग जाते हैं। इसलिए पुस्तक का प्रभाव पाठकों पर कई दिनों तक छाया रहता है। लेकिन फिल्मों का प्रभाव दो या डेढ़ घंटे में उतर जाता है क्योंकि कई छोटे-छोटे डिटेल्स जो फिल्मों की पटकथा में कहीं छूट जाते हैं, उन्हें पुस्तकों में पाठक नहीं छोड़ता। इसका दूसरा कारण यह है कि मानसिक तुलनात्मक दृष्टि से वह दूसरों की प्रस्तुति देखकर संतुष्ट नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी चुनौती निर्देशकों के सामने तब होती है कि जब वे पुस्तकों के चरित्रों के विचारों को संवादों में, भावनाओं की भंगिमाओं में तथा उसमें लिखे गए वर्णनात्मक अंशों को क्रिया-कलापों में ढालने के लिए कैमरे का इस्तेमाल करते हैं। असल में यह उतना सरल नहीं होता। यह एक जटिल प्रक्रिया है।

उदाहरण के लिए 'तीसरी कसम' में यदि राजकपूर की जगह किसी वैसे नायक को लिया जाता जिसके मैनरिज्म से दर्शक पहले से परिचित नहीं होते और उनकी भंगिमाओं को कई बार देखा नहीं होता, तो यह संभव था कि हीरामन के भोलेपन में और ज्यादा स्वाभाविकता झलकती। चूंकि शैलेंद्र को दूसरे नायक को न लेने की मजबूरी रही होगी इसलिए रेणु का हीरामन राजकपूर के व्यक्तित्व के सामने जीवित नहीं हो पाया। हीरामन की भूमिका में राजकपूर 'तीसरी कसम' के हीरामन की भावनाओं को अभिनय में ढालने में असफल थे जबकि हीराबाई की भूमिका में वहीदा रहमान का चुनाव सही था। परदे पर इस भावनात्मक असंतुलन को दर्शकों ने खारिज कर दिया। गरज कि निर्माता-निर्देशक द्वारा कलाकारों के चयन में जरा-सी सुस्ती साहित्य के पूरे प्रभाव पर असर डाल सकती है। यह कोई जरूरी नहीं कि चूंकि नसीरुद्दीन शाह राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और फिल्म संस्थान–दोनों जगहों से अभिनय में डिप्लोमाधारी हैं तो वह गांधी की भूमिका में बेन किंग्सले से बेहतर साबित होते। ब्रिटेन और अमेरिकी अभिनेताओं के बीच यदि डेविड लीन ने 'डा. जिवागो' के लिए उमर शरीफ जैसे अभिनेता का चुनाव किया तो इसलिए कि कम से कम डा. जिवागो का बाहरी व्यक्तित्व दर्शकों को विश्वसनीय लगे।

राधेश्याम फिल्म विषय के जाने-माने लेखक हैं।

हालीवुड में पांचवें दशक में रचनात्मकता की दृष्टि से साहित्य पर आधारित सबसे अधिक फिल्में बनाई गई थीं क्योंकि फिल्मों के लिए तकनीकी लेखन का अभाव था। तब भले ही 10 फिल्मों में से 7 फिल्में उपन्यासों की कथावस्तु पर आधारित होती थीं, लेकिन समय बीतने के साथ जब टेक्नोलाजी के अनुसार लेखन शुरू हो गया और साहित्य तथा हालीवुड के बीच दूरियां बढ़ने लगीं तो साहित्य हाशिए पर चला आया। इस प्रकार फिल्म निर्माण क्षेत्र में इसकी भूमिका एक अतिथि कलाकार की तरह हो गई। 90 के वर्षों में एक स्थिति ऐसी भी आ गई जब आस्कर के पास मानवीय संवेदना पर आधारित सर्वश्रेष्ठ फिल्मों को पुरस्कृत करने की खानापूर्ति 'अपोलो 13' को चुनकर करनी पड़ी, जो पूरी तरह से एक साइंस फिक्शन पर आधारित थी, जिसमें मानवीय मूल्यों और आम आदमी के संघर्ष का लेशमात्र भी संकेत नहीं था।

इस मामले में बालीवुड में अब तक गिने-चुने उपन्यासों को ही परदे पर लाने का साहस किया गया और जिन्हें लाया गया उनमें से अधिकतर को दर्शकों ने खारिज कर दिया जिसमें बंकिमचंद्र चटर्जी की 'आनंद मठ', प्रेमचंद की दो फिल्मों—'गोदान' और 'गबन', चतुरसेन शास्त्री की 'धर्मपुत्र', शरतचंद्र की 'परिणीता' एवं 'देवदास', भीष्म साहनी की 'तमस', अमृता प्रीतम की 'पिंजर' और आर. के. नारायण की 'गाइड' का नाम लिया जा सकता है। इनमें 'गाइड' को छोड़कर किसी भी फिल्म ने दर्शकों के बीच उस तरह की सफलता प्राप्त नहीं की। इनकी संख्या से ही पता चलता है कि सौ सालों के बाद भी साहित्यिक उपन्यासों ने फिल्मकारों का ध्यान आकर्षित नहीं किया। इसका कारण साफ है कि इनमें अच्छी फिल्में बनने की संभावनाएं कम ही होती हैं। हर उपन्यास *गाइड* नहीं हो सकता और न हर उपन्यास *गॉन विद द विंड* ही हो सकता है। इस दृष्टि से हालीवुड हो या बालीवुड, फिल्म निर्माण की संख्या को देखते हुए साहित्य का योगदान एक प्रतिशत भी नहीं है।

कैमरे और कलम के बीच टेक्नोलाजी की इतनी बड़ी दरार है जिसे भरा नहीं जा सकता, चाहे निर्देशक कितना भी महान क्यों न हो। सत्यजित राय द्वारा निर्देशित प्रेमचंद के साहित्य पर आधारित दो फिल्में 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सद्गति' केवल टेक्नोलाजी के कारण वांछित प्रभाव नहीं छोड़ पाईं क्योंकि जब शोषितों, शोषकों और मरने वालों के होठों पर गुलाबीपन चमकता रहता है तो मरने का श्वेत-श्याम का वैसा प्रभाव नहीं आ पाता। इसलिए होना तो यह चाहिए कि टेक्नोलाजी के अनुसार साहित्य की रचना की जाए क्योंकि साहित्य के अनुसार टेक्नोलाजी का इस्तेमाल जोखिम-भरा होता है। ऐसी फिल्में चाहे जितनी अच्छी बनाई जाएं, पाठकों का एक वर्ग जरूर कहेगा कि फिल्म से उपन्यास ज्यादा अच्छा है। *रामचरितमानस* का राम 'रामायण' धारावाहिक से ज्यादा महान और *महाभारत* महाकाव्य का कृष्ण आज भी 'महाभारत' धारावाहिक से ज्यादा अनंत और सर्वव्यापी है और ऐसा हर देश के साहित्य और सिनेमा के साथ होता है।

2005 में आस्कर की प्रतियोगिता के लिए आधा दर्जन उपन्यासों पर आधारित फिल्में मैदान में आईं तो समीक्षकों की खुशी जायज है। इनमें स्कॉट फिलिप्स का *द आइस हार्वेस्ट*, जेन आस्टिन का *प्राइड एंड प्रेज्यूडिस*, ऐनी प्रोलौक्स का *ब्रोकबैंक माउंटेन*, आर्थर गोल्डेन का *मेमोयर्स ऑफ ए गीसा*, सी.एस. लेविस का *क्रोनिकल आफ नारनिया*, और जे. के. राउलिंग्स का *हैरी पोटर एंड द गोबेलेत आफ फायर* जैसी कृतियों का नाम है। हालीवुड के इतिहास में कई दशकों बाद ऐसा अवसर आया कि एक साथ आधा दर्जन निर्देशकों ने साहित्य को दोबारा सिनेमा के साथ जोड़ने की कोशिश की।❑

संपर्क : 12/156, मालवीय नगर, जयपुर-302017

कविता में प्रयोगवाद

पृष्ठ 49 से आगे

वस्तुस्थिति से डरते हुए भी उस पर मोहक आवरण डालने की जगह वे उसका वास्तविक रूप दिखाते चल रहे हैं। इन परिस्थितियों से निकलने का रास्ता न तो उन्हें स्वयं मालूम है और न ये दूसरों को ही बता सकते हैं, फिर भी अनजाने ही मध्यवर्गीय जीवन की असारता का बोध वे करा रहे हैं। इसी 'ईमानदारी' के कारण इन कविताओं में गहरी संवेदना और 'वैयक्तिक अनुभूतियों में निश्छल सुसंगति' है। हिंदी कविता के इतिहास में इसीलिए इन्होंने सूक्ष्म संवेदना और गहन अभिव्यंजना संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण निधियां दी हैं।

3. जहां तक प्रयोगवाद की अत्यंत आत्मनिष्ठता का संबंध है, उसके विषय में अभी तक यही कहा जा सकता है कि यह संकीर्णता दूसरों के लिए घातक होने से पहले स्वयं प्रयोगवादी कविता पर ही घातक सिद्ध होगी जैसा कि अभी से कुछ-कुछ आभासित होने लगा है। प्रयोगवादी कविताओं में एक विशेष प्रकार की घुटन और एकरसता मिलती है जो कवि और पाठक दोनों की मनोवृत्तियों को गहराने के नाम पर संकुचित करती है और इस तरह उन्हें व्यापक विश्व-समाज और प्रकृति में फैलने से रोककर मनुष को जीवन्मृत बना देती है।

यह है प्रयोगवाद पर संक्षिप्त किंतु दो टूक व्याख्या और मूल्यांकन। ज्ञातव्य है कि प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद के कवि नामवर सिंह के समकालीन हैं। उन्होंने इन दोनों काव्य-प्रवृत्तियों पर सहानभूतिपूर्वक विचार किया है, किंतु अपने विश्लेषण में इन कविताओं के महत्त्व के साथ-साथ कमजोरियों पर भी अपना ध्यान केंद्रित किया है। प्रयोगवादी कविता का विकास आगे चलकर 'नए कविता' के रूप में हुआ। उस पर अलग से विचार करने की उनकी इच्छा पहले से ही थी, जिसका संकेत उन्होंने *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां* पुस्तक की भूमिका में पहले ही दे दिया था और नए कविता की कुछ प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं को विस्तार से बताने के लिए उन्होंने 1968 में *कविता के नई प्रतिमान* पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक की रचना के पहले वह शमशेर और मुक्तिबोध पर *कृति* पत्रिका में दो लेख पहले ही लिख चुके थे।

प्रयोगवाद और नई कविता के प्रति अत्यधिक लगाव के कारण कई मार्क्सवादी विचारकों की भर्त्सना भी उन्हें झेलनी पड़ी। कई आलोचकों ने उन पर कलावाद या रूपवाद के प्रति बढ़ते उनके रुझान को उनकी पतनशीलता या उनका विचलन भी बताया। लेकिन नामवर सिंह की आलोचना की शक्ति भी यहीं उजागर होती है। इन कवियों के प्रति लगाव का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने 1990 में जो बात कही, वह ध्यान देने योग्य है—'आत्म-विडंबना के कई आयाम, उसके कई रूप उस काल के कवियों में दिखाई पड़ते हैं। कवियों ने जिक्र किया है—'आत्म-भर्त्सना' का। वह मुक्तिबोध में बहुत ज्यादा थी। जरूरी नहीं कि उस आत्म-भर्त्सना से कविता कमजोर या घटिया हो। इस दौर के मध्यवर्ग के लोगों में अपनी अशक्ति के कारण अथवा इतिहास की अपेक्षा के अनुरूप कार्य न कर पाने के कारण आत्म-भर्त्सना का रूप दिखाई पड़ता है। उनसे घटिया वे लोग हैं जिनमें आत्म-तोष दिखाई पड़ता है। बेहतर वे लोग थे जिनमें आत्म-तोष की अपेक्षा आत्म-भर्त्सना थी, विडंबना थी।' (*पूर्वग्रह* (शतांक), पृष्ठ 141) अर्थात उस दौर में जो कुछ था, वह सब उन्हें स्वीकार न था। उनमें कुछ प्रवृत्तियों के प्रति अस्वीकार का साहस भी था। ❑

संपर्क : यशवंत नगर, मार्खम कालेज के निकट, हजारीबाग-825301 (झारखंड)

वातायन

कृष्ण खन्ना के चित्र

दिल्ली की ललित कला अकादमी दीर्घा में 23 जनवरी को मशहूर चित्रकार कृष्ण खन्ना के सौ से अधिक चित्रों को प्रदर्शित किया गया। आकृतिमूलक ये चित्र जीवन के विविध रंगों से कैनवस पर उतरे हैं। खास बात यह है कि इस ऐतिहासिक प्रदर्शनी में शामिल दो चित्र 1947 में बनाए हुए हैं। 1952, 1979, 2006 में बने कुछ विशिष्ट चित्रों के साथ ही कुल 120 चित्र यहां प्रदर्शित हैं। राजधानी के कला विशेषज्ञों के अनुसार कृष्ण खन्ना के चित्र भारतीय कला की बहुमूल्य धरोहर हैं।

रूस में हिंदी और भारत

सुपरिचित हिंदी कवि और अनुवादक अनिल जनविजय का व्याख्यान साहित्य अकादमी ने 20 जनवरी को आयोजित किया। विषय था: 'रूस में हिंदी और भारत'। मास्कोवासी रचनाकार अनिल जनविजय का कहना था कि आज रूस में हिंदी के जानकारों की मांग तेजी से बढ़ी है क्योंकि रूसी लोग हिंदी सीखना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि भारत-रूस के संबंध खासे पुराने हैं, लेकिन वर्तमान विश्व परिदृश्य में इनमें और प्रगाढ़ता आ रही है। आज रूस को भारत की जरूरत है। भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के प्रति रूस में आकर्षण तो बढ़ा ही है, विपुल मात्रा में दोनों भाषाओं में परस्पर अनुवाद हो रहा है।

कार्यक्रम की अध्यक्षता की (संयोजक सलाहकार मंडल, साहित्य अकादमी) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने। इस अवसर पर उन्होंने कहा—'अनिल जनविजय चूंकि लंबे समय से रूस में न सिर्फ रह रहे हैं वरन समकालीन साहित्य के अनुवाद और रूसी जनजीवन से भी गहरे जुड़े हैं, इसलिए उनके व्याख्यान से हमें प्रामाणिक जानकारी मिली।'

शमशेर सम्मान

वर्ष 2009 का प्रतिष्ठित शमशेर सम्मान सृजनात्मक गद्य हेतु शरद दत्त को और कविता के लिए मदन कश्यप को प्रदान किया गया है। उल्लेखनीय है कि यह शमशेर बहादुर सिंह का शताब्दी वर्ष है। इसकी शुरूआत जनवरी से हुई है।

कौमी एकता पर शायरी

फैजाबाद में नववर्ष का स्वागत कौमी एकता पर केंद्रित शायरी ने किया। महेंद्र उपाध्याय, कमर माहिरी, रामानंद सागर, डा. उर्फी, सलाम जाफरी और शिवकुमार फैजाबादी समेत अनेक शायरों ने अपनी-अपनी जबान में शायरी पेश करके कौमी एकता का संदेश दिया।

टैगोर पुरस्कार

हिंदी रचनाकार राजी सेठ सहित आठ भाषाओं के साहित्यकारों को पहले टैगोर अवार्ड से राजधानी में सम्मानित किया गया। सम्मान पाने वाले साहित्यकारों में बांग्ला भाषा के आलोक सरकार, बोडो के ब्रजेंद्र कुमार ब्रह्म, गुजराती के भगवान दास पटेल, कश्मीरी के नसीम शफाई, कन्नड़ के चंद्रशेखर कंबार, पंजाबी के जसवंत सिंह कंवल, तेलुगु के कोवेला सुप्रसन्नाचार्य थे। साहित्य अकादमी के अध्यक्ष सुनील गंगोपाध्याय ने इस अवसर पर बताया कि कोरिया और भारत गिलकर यह पुरस्कार प्रदान कर रहे हैं। पुरस्कार राशि कोरिया की ओर से सैमसुंग इंडिया ने प्रदान की। लेखकों के एक बड़े वर्ग ने इसका विरोध करते हुए असहमति भी जताई और कहा कि यह अकादमी की स्वायत्तता पर आक्रमण है।

कुमाऊनी का संरक्षण व संवर्धन

उत्तराखंड के गरुड़ में उत्तराखंड पत्रकार एवं साहित्यकार समिति द्वारा 31 दिसंबर को 'कुमाऊनी का संरक्षण व संवर्धन' पर एक विचार गोष्ठी संपन्न हुई। मुख्य अतिथि थे चंदन राम दास और अध्यक्षता की शोभा आर्य ने। चंद्रशेखर बड़सीला के संयोजन में अनेक विद्वानों ने कुमाऊनी को अधिकाधिक प्रयोग में लाने का आग्रह किया। वक्ताओं में गोविंद भंडारी, रतन सिंह किलमोलिया, मोहन चंद जोशी, रोशन लाल, देवकीनंद जोशी आदि शामिल थे। इस अवसर पर कुमाऊनी भाषा, संस्कृति व कला के क्षेत्र की अनेक विभूतियों को भी सम्मानित किया गया।

12वां भारत रंग महोत्सव

भोपाल में 12 वें भारंगम के दौरान मंचित हो रहे नाटकों में अधिकांश प्रयोगशील रहे। इस दौरान महज चार हिंदी नाटक ही मंचित किए जा सके। 'क्विक डेक' के प्रदर्शन के बाद यह विवाद शुरू हो गया कि निर्देशक आखिर दिखाना क्या चाहते हैं? बैकेट के एब्सर्ड नाटक की तर्ज पर लिखा गया आस्ट्रेलियाई नाटककार रिचर्ड मारफेट का यह नाटक दर्शकों को प्रभावित नहीं कर पाया।

बालासाहब पूछवाले की स्मृति में

ग्वालियर की तानसेन वीथिका में ग्वालियर घराने के गायक बालासाहब पूछवाले की स्मृति में समर्पित आयोजन यादगार रहा। सबसे ज्यादा ध्यान आकर्षित किया संचारी बक्षी के सितार-वादन ने।

लोकरंग

26 जनवरी से एक सप्ताह तक चला भोपाल के रवींद्र भवन में लोकरंग उत्सव उल्लेखनीय रहा। 20 राज्यों से प्रतिनिधि नृत्य प्रस्तुतियां, विदेशी पुतलियों की प्रदर्शनी, कार्यशाला, भक्ति-संगीत की प्रस्तुति ने इस शिल्प मेला उत्सव को स्मरणीय बना दिया।

भाषा समन्वय पुरस्कार

वर्ष 2009 के अभय देव स्मारक भाषा समन्वय पुरस्कारों की घोषणा सचिव भाषा समन्वय वेदी, कालीकट के पी.के. रामचंद्रन ने की। सुपरिचित हिंदी कवि उमेश चौहान को अक्कितम नंबूदरी की कविताओं के हिंदी अनुवाद के लिए (*अक्कितम की प्रतिनिधि कविताएं*) सम्मानित किया जाएगा। चौहान केरल सरकार में सचिव पद पर कार्यरत भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी हैं। पत्रिकाओं में कोट्टकल से प्रकाशित *कवन कौमुदी* व छत्तीसगढ़ से प्रकाशित *सद्भावना दर्पण* को भी यह पुरस्कार प्रदान किया जाएगा।

संगोष्ठी

उत्तर प्रदेश भाषा विभाग ने वाराणसी में प्रसिद्ध साहित्यकार पं. विद्यानिवास मिश्र की स्मृति में भारतीय लेखक शिविर और संगोष्ठी आयोजित की। संगोष्ठी में शामिल विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कृष्णदत्त पालीवाल, कमलेश दत्त त्रिपाठी और टी.एन. चतुर्वेदी ने इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा आम ज्ञान की बजाय सिर्फ रोजगार का माध्यम बनती जा रही है।

AH-3/10/4

गौरवशाली व खुशहाल

60

वर्ष हमारे गणतंत्र के



सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

DAVP 22201/1/13/0020/0910

डाक तार पंजीयन सं. डीएल (एस)-05/3222/2009-11बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस U(DN)49/2009-11
Postal Regn No. DL(S)-05/3222/2009-11 दिल्ली डाक आर एन 701/57
Licenced U (DN) 49/2009-11to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal R N 701/57
वार्षिक मूल्यः 100 रुपये







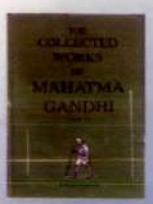















प्रकाशन विभाग की
घरेलू पुस्तकालय योजना

पुस्तक प्रेमियों के लिए सदस्य बनने का सुनहरा अवसर

विशेष आकर्षण :

1. केवल 100 रुपये देकर आजीवन सदस्यता प्राप्त करें।
2. प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित किसी भी पत्रिका का तीन वर्ष के लिए ग्राहक बनने पर सदस्यता केवल 50 रुपये में प्राप्त की जा सकती है।
3. सामान्य छूट के बाद सौ रुपये या उससे अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर 20 प्रतिशत की विशेष छूट दी जाएगी।
4. सामान्य छूट के बाद पांच सौ रुपये या उससे अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर सदस्य को 25 रुपये मूल्य की पुस्तकें/पत्रिकाएं उपहार में दी जाएंगी।
5. सदस्यों को प्रकाशन विभाग की पुस्तकों की सूची निःशुल्क दी जाएगी।

सदस्यता फार्म तथा अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें–

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स,
लोदी रोड, नई दिल्ली – 110 003

फोन : 24365610, 24367260
फैक्स : 011–2436 5609
ई –मेल : dpd@sb.nic.in, dpd@mail.nic.in
वेबसाइट : www. publicationsdivision.nic.in

विक्रय केंद्र: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली–110 003 (टे.24367260). हाल नं0 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली–110 054 (टे.23890205). सी–701, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुंबई–400 614 (टे.27570686). 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कोलकाता–700 069 (टे.22488030). राजाजी भवन, एफ एंड जी ब्लॉक, 'ए' विंग बेसेंट नगर, चेन्नई–600 090 (टे.24917673). बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800 004 (टे.2683407). प्रेस रोड, निकट गवर्मेंट प्रेस तिरुअनंतपुरम–695 001 (टे.2330650). हाल नं.1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, सेक्टर–एच, अलीगंज, लखनउ–226 024 (टे.2325455). ब्लॉक नं. 4, गृहकल्प कॉम्प्लेक्स, एम.जी. रोड, नामपल्ली, हैदराबाद–500 001 (टे.24605383). प्रथम तल, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर–560 034 (टे.25537244). अम्बिका कॉम्प्लेक्स, प्रथम तल, पालदी, अहमदाबाद–380 007 (टे.26588669). हाउस नं. 07, न्यू कालोनी, चेनीकुथी, के.के.बी. रोड, गुवाहाटी–781 003 (टे.2665090).

• प्रकाशन विभाग समाचार पत्रों में विज्ञापन के जरिए एक महीने का नोटिस देकर इस योजना को समाप्त कर सकता है।

DPDB-H-08/2

प्रकाशक व मुद्रक, वीना जैन, अपर महानिदेशक (प्रभारी) द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए अंकिता आर्ट प्रिंटर्स, 226, डी.एस.आई.डी.सी. कॉम्प्लेक्स, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-I से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित। वरिष्ठ संपादक : योगेन्द्र दत्त शर्मा